॥ श्रीः ॥

श्रीभानुमिश्रविरचित-

रसतरंगिणी ।

जयपुर राजकीय संस्कृतपाठशालाके प्रधान न्यायशास्त्राध्यापक साहित्य धुरंधर दर्शनपारदृश्वा गुरुपदविभूषित श्रीपण्डित जीवनाथजी ओझा विरचित भाषाटीका सहित ।

जिसको

खेमराज श्रीकृष्णदासने

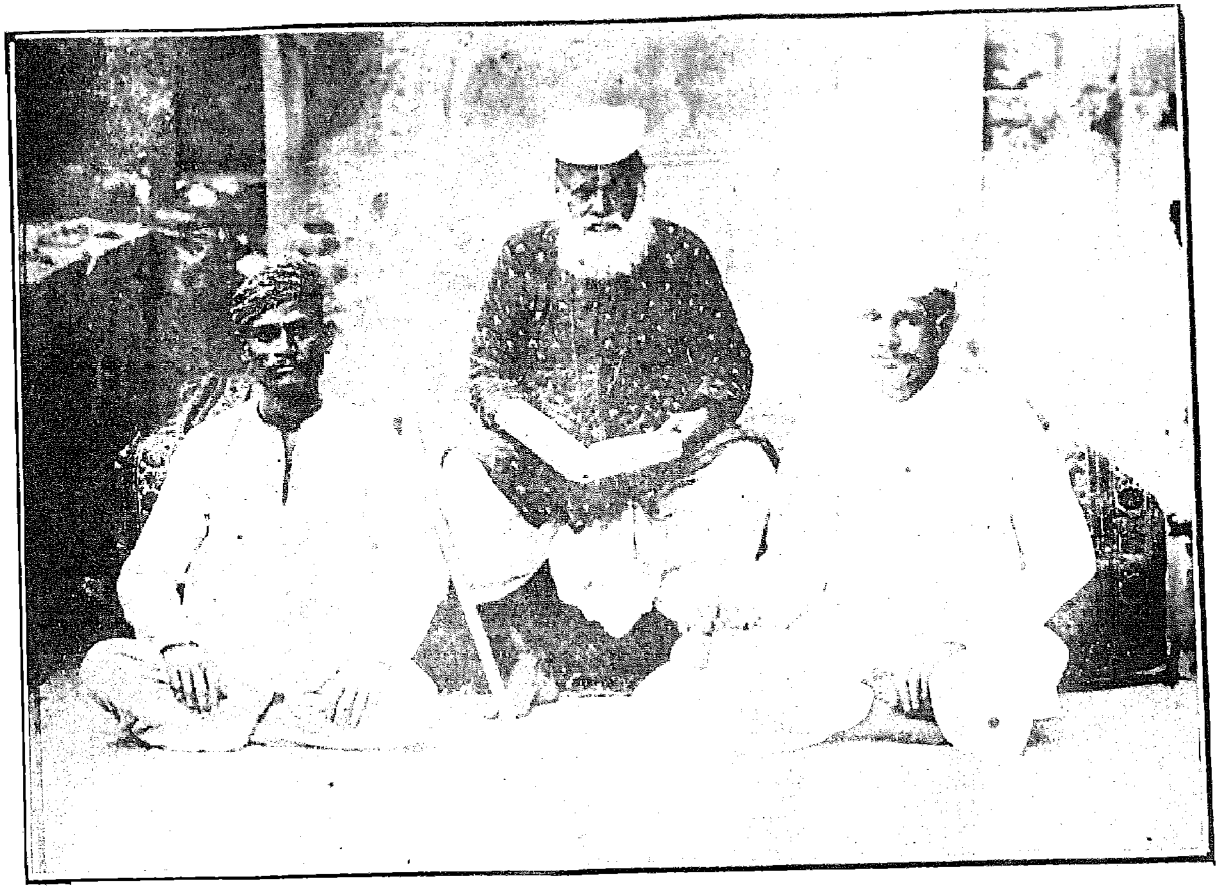
बम्बई

खेतवाडी ७ वीं गली खम्बाटा लेन

निज "श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम्-मुद्रणयन्त्रालयमें

मुद्रितकर प्रकाशित किया ।

संवत् १९७१, शक १८३६.
1914



पण्डितवर श्रीजीवनाथजी ।

॥ श्रीः ॥

अथ रसतरंगिणी।

भाषाटीकासहिता।

प्रथमस्तरङ्गः १

लक्ष्मीमालोक्य लुभ्यन्निगमम्[1]उपहसञ्शोचयन्यज्ञजन्तू-
न्क्षत्रं शोणाक्षि पश्यन्समिति दशमुखं वीक्ष्य रोमाञ्चमञ्चन्।
हृत्वा हैयंगवीनं चकितमपसरन्म्लेच्छरक्तैर्दिगन्ता-
न्सिञ्चन्दन्तेन भूमिं तिलमिव तुलयन्पातु नः पीतवासाः॥१॥

अभिमतग्रन्थसमाप्तिप्रतिबन्धकविघ्नविघातके अर्थ ग्रन्थप्रतिपाद्यरसरूपता करिके इष्टदेवताकी बारम्बार स्तुति करते हैं "लक्ष्मी" इत्यादि श्लोकसे। श्लोकार्थ यह है कि पीतवस्त्रयुक्त श्रीकृष्ण हमारी रक्षा करो। यहां रक्षा शब्दका अर्थ ग्रन्थ-समाप्तिप्रतिबन्धकदुरितदूरीकरणकारिकै समाप्त्यनुकूल धन स्त्री आदि सम्पत्ति दान अभिव्यञ्जित करना है। इस श्लोकमें आठवाक्योंकरिकै आठही रसकी स्वरूपता परमेश्वरकी वर्णन करतेहैं। तहां रसोंमें पहिले शृंगार रस है। उसीको आरम्भ करिकै श्रीकृष्णकी रसस्वरूपता वर्णन करतेहैं॥ क्या करते हुवे रक्षा करो सो कहतेहैं कि लक्ष्मीको देखकरिकै आकांक्षा करते हुवे। इस स्थलमें जिस रीतिसे 'अधीत्य तिष्ठति' यहां स्थितिके पूर्वकालमें अध्ययन बोध नहीं होताहै किन्तु जिस जिस समय स्थिति होतीहै उस उस समय अध्ययन होताहै। यह जो कालविशेषावच्छिन्न व्याप्ति सो क्त्वा प्रत्ययका अर्थ होताहै। इसी रीतिसे यहां भी भगवान्के हृद-यमें लक्ष्मीको मैं देखूं ऐसी आकांक्षा होती है, उसी समय लक्ष्मीका दर्शन होताहै यह जो कालविशेषावच्छिन्न व्याप्ति सो ही "क्त्वा" प्रत्ययका अर्थ है। और आकांक्षाके पूर्वकाल लक्ष्मीका दर्शन होताहै यह अर्थ नहीं है। क्योंकि आकांक्षाकालमें भी दर्शन होताही है इससे पूर्वकालका बाध होनेसे क्त्वा प्रत्यय बाधित होजायगा और यह अर्थ क्त्याप्रत्ययका करनेसे विप्रलम्भकाभी अभि-व्यञ्जन होताहै, इसलिये पूर्वकाल क्त्वाप्रत्ययका अर्थ नहीं जानना किन्तु पूर्वोक्त कालविशेषावच्छिन्न व्याप्तिही क्त्वाप्रत्ययका अर्थ जानना। अथवा लक्ष्मीको देखकरिके आलिंगनादिकी आकांक्षा करते यह अर्थ जानना। यहां रमाविभ्रम-

१ निगममुपहरन्निति पाठान्तरम्।

विलासावलोकन करिके तदंगालिंगनचुम्बनप्रवणचित्त जो पीताम्बर भगवान् सो निज वेषविलासादिको नवीन करते शृंगाररसस्वरूप हैं, यह अर्थ व्यंजित भया। फिर क्या करते हुए वेदका उपहास करते हुए। मुनि, भण्ड और निशाचर यह तीन वेदके करनेवाले हैं ऐसे अर्थके "त्रयो वेदस्य कर्तारो मुनिभण्डनिशाचराः" इस सूत्रका प्रणयनकरिके वेदोपहास करते यह कहनेसे भगवान् हास्यरस स्वरूप हैं यह सूचित किया। कहीं 'उपहरन्' ऐसा भी पाठ है तदनुसार ऐसा अर्थ जानना चाहिये कि मत्स्यका स्वरूप हो करिके शंखासुरको मारि करके वेदका उपहार करते यह कहनेसे तिर्यग् जातिका अनुकरण करनेसे भगवान् हास्यरसस्वरूप हैं, यह अर्थ सूचित हुआ। फिर क्या करते हुए, यज्ञपशुओंका शोच करते भये अर्थात् यज्ञमें पशुका आलम्भन देखकरके आप शोक करते हैं और अन्यको भी शोकयुक्त करते हैं। यह कहनेसे करुणारसस्वरूप भगवान् हैं यह सूचित किया। फिर क्या करते हुए, लाल नेत्र करिके क्षत्रियसमूहको देखते अर्थात् क्षत्रियोंका अविनय देखकर क्रोधवश रक्तनेत्र मैं परशुराम क्षत्रियसमूहका मर्दन करूं ऐसा कहते इससे रौद्ररसस्वरूपता सूचित करते हुए। फिर क्या करते हुए सङ्ग्राममें रावणको देखकरिके रोमाञ्चको प्राप्त होते हुए यह कहनेसे सुरासुरका जीतनेवाला रावण संग्राममें प्राप्त हुवाहै इस पर बडा भयानक युद्ध मैं करूँगा इस उत्साहसे शोभायमान रोमहर्षयुक्त रामचन्द्र वीररसस्वरूप हैं यह सूचित हुवा। फिर क्या करते हुवे, नवनीत घृत तत्कालमें पक्व है इस हेतुसे हरण करिके अर्थात् चोर करिके चकित जैसे होय तैसे यशोदा हमको ताडना करैगी इस भयसे भागते हुए, यह कहनेसे भयानक रसस्वरूप भगवान् हैं यह सूचित हुवा। फिर क्या करते हुवे म्लेच्छोंके रक्तसे दिशाओंके अन्तको सींचते हुवे, यहां जुगुप्सा अभिव्यञ्जित होतीहै। इस जुगुप्सासे बीभत्सरसस्वरूप भगवान् हैं यह सूचित हुवा। फिर क्या करते हुवे, सूकरावतारमें दाँतसे पृथ्वीको तिलके परिमाणके तुल्य धारण करते हुवे। यहाँ एकोनपञ्चाशत्कोटि योजन परिमित जो पृथ्वी सो दंतसे धारण की गई तब तिलपरिमिता शोभित होती भई। इस विस्मयोक्तिसे अद्भुतरसस्वरूप भगवान् हैं यह सूचित हुवा॥

द्वितीयपक्षव्याख्या।

पीत अर्थात् अपहृत किया है गोपियोंके पहिरनेके वस्त्र जिसने सो पीतवास "पीतानि अपहृतानि वासांसि परिधानीयानि अर्थाद्गोपीनां येन स पीतवासाः" इस अर्थको कहता हुवा पीतवास पद नानाविधक्रीडाविटत्वको कृष्णमें सूचित करताहै। यहां शब्दशक्तिमूल व्यंजना जानना। यहां शृंगार और

हास्य दोनों रसोंकी प्रतीति होतीहै । अथवा पीत अर्थात् मृत जो गुरुपुत्र उसके लिये जो गमनकरै सो हुवा पीतवा "पीताय मृतगुरुपुत्राय वाति गच्छति इति पीतवाः" तो यह फलित हुवा कि मृत गुरुपुत्रको लानेके लिये गमन करनेवालो, यह पीतवा शब्दका अर्थ हुवा । और फेंका जाय जिसको वह हुवा अः अर्थात्सुदर्शनचक्र उसकरिके सहित जो होय वह हुवा साः "अस्यते क्षिप्यते इति अः सुदर्शनचक्रम् तेन सहितः साः" पीतवा ऐसा जो साः वह हुवा पीतवासाः "पीतवाः चासौ साश्चेति कर्मधारयः" तो यह अर्थ फलित हुवा कि मृतगुरुपुत्रके लानेके लिये गमन करनेवाला जो सुदर्शनचक्रयुक्त पुरुष उसको पीतवासाः कहना। यह कहनेसे अद्भुत और रौद्ररसकी प्रतीति हुई। अथवा चलनेवाला हुवा वा "वातीति वाः" अर्थात् पवन । पीया है पवन जिसने वह हुवा पीतवा अर्थात् सर्प या राक्षस "पीतः वाः येन सः पीतवाः" पीतवाका जो मारनेवाला वह हुवा पीतवासाः "तं स्यतीति पीतवासाः" । सम्पूर्ण प्रकारकरिके जो असत्पुरुष हैं उनमें समानतासे वर्तनेवाला जो है वह हुवा आस् "समन्तात् असति समतया वर्तत इत्यास्" पीतवासा ऐसा जो आस् सो हुवा पीतवासाः "पीतवासाश्चासावास् चेति पीतवासाः" तो यह अर्थ फलित हुवा कि पीतवा अर्थात् वायुको पान करनेवाले ऐसे जो व्याल राक्षसादि उनका मारनेवाला ऐसा जो असत्में समानरूपतासे वरतनेवाला पुरुष सो हुवा पीतवासाः यह कहनेसे वीरशान्तकी प्रतीति हुई ॥ अथवा स्थिति होय जिससे उसको कहना आस "आस्यते स्थीयतेऽनेनेत्यासः" अर्थात् स्थितिकरण आसशब्दार्थ हुवा । अथवा स्थितिही आसशब्दार्थ है "आसनमासो भावे घञ्" और गया है धैर्य वा धैर्यकरण पुत्रादि जिन दोनोंका वे हुवे वास अर्थात् देवकी वसुदेव "वाति गच्छति आसः धैर्य धैर्यकरणं पुत्रादि वा ययोस्तौ वासौ देवकी वसुदेवौ" उन दोनोंके प्रति जो स्थित होय वह हुवा वासास् "तौ प्रत्यास्ते इति वासाः।" और पीत जो शब्द है सो पानकर्ताको कहताहै सो पान दुग्ध दधिका जानना पीत ऐसा जो वासाः वह हुवा पीतवासाः तो यह फलित हुआ कि दधि दुग्धका पान करनेवाला ऐसा। और वास् अर्थात् धैर्य वा धैर्यकरण गया है जिनका ऐसे जो देवकी वसुदेव उनके प्रति स्थित होनेवाला पुरुष यह कहनेसे भयानक और करुणा दो रसकी प्रतीति हुई। अथवा वसा जो है सो ही वासा अर्थात् मांस तहां जो स्थित होय वह हुवा वासास् अर्थात् रुधिर पान कियाहै वासास् अर्थात् पूतनाका रुधिर जिनने वे हुवे पीतवासाः "वसैव वासा मांसं तत्रास्त इति वासा रुधिरम्, पीतं वासाः येन सः पीतवासाः" यह कहनेसे यह अर्थ फलित हुवा कि पान किया है पूतनाका रुधिर जिसने उसको पीतवासाः कहना। यह कहनेसे बीभत्सरसकी प्रतीति हुई। इस रीतिसे

पीतवासाः इस शब्दमेंही नौ रसकी प्रतीति हुई ऐसे जो श्रीकृष्ण सो हमारी रक्षा करो ॥ क्या करते हुवे लक्ष्मी जो हरिप्रिया उसको देखकरिकै अनुराग करते हुवे। यह कहनेसे नृसिंहावतारमें अत्यन्त क्रोध शान्त्युपायका अन्वेषण करनेवाले देवताओंने लक्ष्मीको आगे स्थापित की, तब नृसिंह लक्ष्मीमें आसक्त होगये यह जो पुराणप्रसिद्धार्थ सो सूचित हुवा। फिर क्या करते हुवे वेदका उपहास करते हुवे, इस ही लिये यज्ञोपयुक्त पश्वादिकोंका शोच करते हुवे अर्थात् वृथा ये पशु मारे गयेहैं यह प्रतिपादन करते हुवे। इन दोनों बातोंसे बौद्धावतारमें वेदकी निन्दा और पशुघातकी निन्दा की यह सूचित हुवा। फिर क्या करते हुवे क्षत्रियजातिको लालनेत्र कर देखते हुवे यह कहनेसे परशुरामावतारमें क्रोधावेशसे सम्पूर्ण क्षत्रियोंको देखा यह अर्थ सूचित हुवा। इसही रीतिसे संग्राममें रावणको देखकरिकै रोमाञ्चको प्राप्त होतेहुए यह कहनेसे रामावतारमें सङ्ग्राममें रावणको देखकरिके उत्साहयुक्तता प्रतीत हुई। फिर क्या करते हुवे, अतीतदिनका गोदोहोद्भव तात्कालिक घृतका हरण करिकै चकित जैसे होय तैसे अर्थात् व्याकुलान्तःकरण होकरिके दौडते हुवे, यह कहनेसे कृष्णावतारमें यशोदासे भीतिको प्राप्त हुवे यह सूचित हुवा। इसही रीतिसे म्लेच्छोंके रुधिरसे दिशाओंके अन्तको प्रोक्षण करते यह कहनेसे कल्कि अवतारमें किया हुवा जो रुधिरसेक उससे बीभत्स सूचित हुवा। इसही रीतिसे दांतसे भूमिको तिलकी तरह उद्धार करते, यह कहनेसे जिस रीतिसे प्राकृत पुरुष अनायाससे तिलको उठाताहै इसही तरह वराहावतारमें पृथ्वीको उठालिया यह सूचित हुवा। यहां यह शंका होतीहै कि यद्यपि " भग्नं कामरिपोर्धनुः" इत्यादि वक्ष्यमाण जो रसशबलोदाहरण उसकी रीतिसे एकही व्यक्तिमें नानारसका प्रतिपादन करनेमें समर्थ होसक्तेहैं, फिर भिन्न भिन्न स्वरूप भगवान्का वर्णन करिकै भिन्न भिन्न रसप्रतिपादन करनेमें क्या फल है ? यह शंका ठीक है, तथाऽपि एकरसप्रधानताको प्रकाशकरनेके लिये तत्तत् अवतारमें तत्तत् रसका प्रदर्शन किया ऐसा हुवा तो वाक्यभेदसे एकैक रसकी एकैक अवतारमें प्रतीति होनेसे विरोधकाभी प्रसरण नहीं हुआ, यह भी अनुगुण हुआ। यदि एकहीमें सब रसोंका प्रतिपादन करते तो रसशबल नामक रसान्तर ही प्रतीत होजाता। आगे कहैंगे कि "एकः सिन्धुभुवः करे विलुलितः" इत्यादि श्लोकोंमें रसशबलनामक रसान्तरका प्रतिपादन है। प्रकृतमें भी इसही रीतिसे होजायगा। और विवक्षित जो नवरसप्राधान्यप्रतिपादन सो नहीं होगा इसलिये भिन्न भिन्न अवतारमें भिन्न भिन्न रसका प्रतिपादन यहां किया सो हुवा तो एक ही पुरुषका अप्रतिहत इच्छा विना अनुपपद्यमान तत्तदवतारताके प्रतिपादनके द्वारा शान्तरसका भी प्रतिपादन कियागया क्योंकि अप्रतिहत इच्छा शान्तरस विना नहीं होतीहै ॥ १ ॥

भारत्याः शास्त्रकान्तारश्रान्तायाः शैत्यकारिणी ॥
क्रियते भानुना भूरिरसा रसतरंगिणी ॥ २ ॥
वाणी कमलिनी भानोरेषा रसतरंगिणी ।
हंसाः कृतधियस्तत्र युक्तमत्र प्रतीयताम् ॥ ३ ॥
गिरां देवि तरंगिण्यां वारय क्रूरवारणान् ॥
यद्भविष्यति लोकानामाविलो विमलो रसः ॥ ४ ॥

अब यह शंका होतीहै कि प्रकृत ग्रन्थको तत्तच्छास्त्रप्रसिद्ध अर्थ जो आत्मा उस आत्माकी प्रतिपादकता "रसो वै सः" इस श्रुतिसे समान ही है। क्योंकि आत्मा और रसका स्वरूप भिन्न नहीं है। तो रसप्रतिपादनमें भी आत्माका ही प्रतिपादन हुवा तो सकल शास्त्रसे विशिष्टता इसमें नहीं हुई, फिर नवीन ग्रन्थके आरम्भसे क्या फल है ? यह सत्य है तो भी लौकिक आह्लादका आधिक्यसे जो प्रतिपादन करना सो अतिसुकुमार जो राजकुमार और शास्त्रव्याकुलितान्तःकरण जो जन उनके भी अन्तःकरणके विनोदपुरःसर निरूपणीयार्थके ज्ञानके निमित्त होगा। इसलिये यह नवीन ग्रन्थका आरम्भ है यह "भारत्याः" इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं। श्लोकार्थ यहहै कि भानुमिश्र "रसतरंगिणी" ग्रन्थ बनाताहै परन्तु इस ग्रन्थमें रसका आधिक्य होनेसेही तरङ्गाकुलतासे रसतरंगिणीपदप्रतिपाद्यता सम्भवेगी इस हेतु इस ग्रन्थको विशिष्ट करतेहैं "भूरिरसा" इत्यादि वाक्योंसे। कैसीहै रसतरंगिणी, बहुत है रस जिसमें ऐसी। फिर कैसीहै कि शास्त्ररूप जो वन उसमें थकी हुई जो सरस्वती ताकी शैत्यकारिणी अर्थात् सुखावगमहेतु है ॥२॥ इस ग्रन्थमें रसोद्बोधसे सहृदयजनकाही अधिकार है यह बात "वाणी" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि यह बुद्धिस्थित रसतरंगिणी अर्थात् इस प्रतिपादक वाक्यावलीगुम्फतासे परिणता तरंगिणी है, तहाँ उदाहरणपरताकरिकै परिणता जो भानुदत्तवाणी सो कमलिनी है। कृतधी अर्थात् पण्डित यही हंस हैं। यहीं जलांशको त्यागकरिकै दुग्धसारग्रहणकी तरह युक्तार्थ ही प्रतीतिविषय हो ॥ ३ ॥ कर्कश जनको इस ग्रन्थमें अधिकार नहीं है। यह बात "गिरां देवी" इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं। श्लोकार्थ यहहै कि, हे वचनकी देवी ! अर्थात् सरस्वती ! क्रूर अर्थात् दुष्टान्तःकरण जो हैं सो ही वारण अर्थात् गज, उनको इस ग्रन्थमें मत प्रवेश करनेदे उनके नहीं प्रवेश करने देनेसे नानाग्रन्थावलोकन करनेवाले जो रसिक जन, तिनको आविल अर्थात् कठोरपुरुषका कुतर्ककर्दमोत्थापनकरिकै अनाह्लादक रस विमल अर्थात् हृदयाह्लादक होजायगा ॥ ४ ॥

हेतोः पूर्ववृत्तित्वनियमादतः पूर्वमेव तस्योपन्यासः समुचितः। रसस्य हेतवो भावादयः। तेन रसेभ्यः पूर्वं भावादय एव निरूप्यन्ते। रसानुकूलो विकारो भावः। विकारोऽन्यथाभावः॥

इस ग्रन्थमें रसका निरूपणही उद्दिष्ट है इसलिये भावनिरूपण यहाँ अप्रासकाल है। फिर रस निरूपणका त्यागकरिके प्रथम भावनिरूपण क्यों करना ? इस शंकाका समाधान "हेतोः" इत्यादिग्रन्थसे करतेहैं। कारणको कार्यका पूर्ववृत्तित्वनियम है। इसलिये प्रथमही कारणका उपन्यास योग्य है। प्रकृतमें रसके कारण भावादिक अर्थात् भावप्रधान भाव, विभाव, अनुभाव हैं। इस हेतु रससे पूर्व यथाक्रम भावादिकोंका निरूपण करतेहैं। तहां प्रथम भावका निरूपण "रसानुकूल" इत्यादि ग्रन्थसे करतेहैं। अब यहाँ यह शंका होतीहै कि रससे पूर्व भावादिकोंका निरूपण करना तो ठीक है परन्तु भावादिकोंमें पहले स्थायिभावनिरूपण, पीछे विभावनिरूपण, पीछे अनुभावनिरूपण पीछे सात्विकभावनिरूपणपश्चात् व्यभिचारिभावनिरूपण यह क्रमविरुद्ध है क्योंकि रसके कारण तो सम्पूर्ण हैं। तो प्रथम स्थायिभावहीका निरूपण करनेमें क्या हेतु? व्यभिचारिभावहीका निरूपण क्यों नहीं किया? अथवा विभाव अनुभावका निरूपण क्यों नहीं किया ? यदि तुम यह कहो कि इन सबकी अपेक्षा स्थायी सुन्दर है। सम्पूर्ण भाव इसहीको प्राप्त होकरिके रसरूप होतेहैं इससे स्थायी श्रेष्ठ है।अत एव प्रथम निरूपण किया यह ठीकहै। परन्तु विभावादिकी अपेक्षासे सुन्दरता होनेसे व्यभिचारिभावनिरूपणही स्थायिनिरूपणानन्तर प्रसंगसे उचितहै क्योंकि अन्तरभाव दो प्रकारके कहेहैं। एक स्थायी और दूसरा व्यभिचारी। तहाँ स्थायिनिरूपणानन्तर व्यभिचारिनिरूपण उचितहीहै। स्थायिनिरूपणानन्तर विभावादिनिरूपणकरिकै व्यभिचारिनिरूपण करना उचित नहीं। यह शंका समीचीन है, तथापि तुल्ययुक्तिकरिकै स्थायिभाव और व्यभिचारिभावकोभी विभाव कारण होतेहैं, इस हेतु स्थायिभावनिरूपणसे पूर्व विभावनिरूपण प्राप्त हुआ फिर विभावनिरूपणके बिना स्थायिभावनिरूपण कैसे किया ? परन्तु वक्ष्यमाण रीतिसे स्थायिके ज्ञानकरिकै जाननेलायक जो विभाव हैं उनका स्थायिके निरूपणके पूर्व निरूपण नहीं करसक्तेहैं। इस हेतु विभावके पूर्व स्थायिका निरूपण किया, पीछे विभावका निरूपण किया।और अनुभाव जो है सो दोनोंही प्रकारका अर्थात् रसका अनुभाव और व्यभिचारीका अनुभाव व्यभिचारिभावके व्यञ्जनमें योग्य है। इस लिये विभावोत्तर अनुभावका निरूपण किया और सात्त्विकभावको तो द्विरूपताहै अर्थात् सात्विकभाव व्यभिचारिरूपभी है व अनुभावरूपभी है। यह सूचन करनेके अर्थ

अनुभाव व्यभिचारिभावके मध्यमें निरूपण किया इसलिये सम्पूर्ण निरूपण सम्यक् है कोई विरुद्ध नहीं। इसके अनुकूल जो विकार सो भाव कहाजाताहै। इसकी व्याख्या कोई इस तरहसे करतेहैं कि रसके अनुकूल जो ज्ञान उसका जो विषय इसही हेतु विकाररूप जो वस्तु सो भाव है। यहाँ अज्ञायमान जो वस्तु सो ज्ञायमान होय यही विकार है। जिस वस्तुका ज्ञान रसके अनुकूल होय वही भाव है। यहां यह शंका होतीहै कि ऐसा भावका लक्षण कहा तो हावकाभी ज्ञान रसके अनुकूल होताहै तो हावभी भाव कहावेगा। इसका समाधान यह है कि हावभी भावही है इसलिये भावलक्षण यही रहा तो कोई दोष नहीं। भाव होनेसे लक्ष्यभी जो हाव है उसका हावसे पृथक् निरूपण होगा तो भी कुछ अनुचित नहींहै। ऐसा जो भावलक्षण हुआ तो भावलक्षणमें किसी पण्डितने यह दोष दियाहै कि नायिकादि जो आलम्बन विभाव और चन्दनादि जो उद्दीपन विभाव सो भी भाव कहातेहैं। तहां इस भावलक्षणकी अव्याप्ति होगी क्योंकि नायिकादि और चन्दनादिमें यद्यपि रसानुकूलता है परन्तु विकार नहीं है क्योंकि विकार अन्यथाभावका नाम कहतेहैं। सो नायिका वा चन्दनादि अन्यथाभाव नहींहै। यह कहनेवाले अब परास्त होगये क्योंकि हम विकार अन्यथाभावको नहीं कहतेहैं किन्तु ज्ञायमान होय सोही विकार है तो नायिकादि ज्ञायमान होकरिके रसका अनुकूल होताहै इससे भावलक्षणकी अव्याप्ति नहीं होगी। यहां यह शंका होतीहै कि ऐसा भावका लक्षण कहा तोभी आन्तर भावमें अव्याप्ति होगी। क्योंकि आन्तर भावोंको आपके स्वरूपहीसे रसानुकूलता है, ज्ञायमान हो करिके रसानुकूलता नहीं है। तो भावलक्षण वहीं नहीं रहा। इस शंकाका समाधान यह है कि ज्ञायमान शब्दमें ज्ञान जो वस्तु है सो अन्तःकरणवृत्ति और साक्षी दोनोंहीका ग्रहण करताहै। इस हेतु आन्तर भाव अन्तःकरणवृत्तिका विषय नहीं है, तोभी साक्षीका विषय होके रसानुकूल होताहै इससे ऐसे भाव लक्षणमें कोई दोष नहीं हुआ। यह मत समीचीन नहीं क्योंकि सब जगह भावपदका व्यवहार नहीं होताहै। यदि होता तो आलम्बन विभाव उद्दीपन विभावको भाव बनानेके लिये विकारशब्दका अज्ञायमान ज्ञायमान होजाय यह अर्थ करनाभी बनसकता। सो आलम्बन विभावादिमें भावपद प्रयोग नहीं देखतेहैं। फिर ऐसा अर्थ करना ठीक नहीं। फिर शंका होतीहै कि आलम्बन विभावादिमें भावपद प्रयोग नहीं होताहै। यह कहना समीचीन नहीं क्योंकि ये विभाव हैं ये अनुभाव हैं इस प्रकारसे भावपदप्रयोग सबमें होरहा है, इस शंकाका समाधान यहहै कि विभाव अनुभावमें जो भावपदकी प्रवृत्ति होतीहै सो विशेषकरिके जो

विकारश्च द्विविधः। आन्तरः शारीरश्च। आन्तरोऽपि

भावित करे उसको विभाव कहना और अनुभवको जो करावे उसे अनुभाव कहना, यह जो दूसरी व्युत्पत्ति है इसका अंगीकार करिकै स्वीकार किया गयाहै। और प्रकृतमें जो भाव कहा है उसको मानकरिकै भावपद प्रयोग वहाँ नहीं है। यदि इसीको मानकरिकै भावपद प्रयोग करो तो जिस तरह व्यभिचारी भाव कहा जाताहै इसीतरह विभाव भाव है। अनुभाव भाव है, ऐसाभी प्रयोग होजायगा परन्तु ऐसा प्रयोग नहीं होताहै। इससे उक्त व्युत्पत्ति मान करिकै ही भावपदप्रवृत्ति कहना ठीक है। प्रकृतमें विवक्षित जो भावपद सो वहां नहीं है ऐसा हुआ तो विकार शब्दका ज्ञायमान अर्थ कहकरिकै आलम्बन विभावादिमें जो भावपद प्रयोग स्थापित किया वह असमीचीन ही है। फिर शंका होतीहै कि भाववस्तुका अनुगम तो रहा नहीं कहीं भावपदका अर्थ औरही हुआ कहीं औरही हुआ ऐसा हुआ तो सात्त्विक भावमेंभी उक्त भावलक्षण रहैगा नहीं। यहांभी दूसरी उत्पत्ति करिकै भावपदप्रयोग करना चाहिये। ऐसा होगा तो सात्त्विकभी भाव नहीं कहावेंगे। इसका समाधान यह है कि भावलक्षणमें विकारपदसे प्राणिप्रयत्न विना जो होय और प्राणिके आश्रित सत्ता जिसकी होय उसको विकार कहते हैं, यहां प्राणिशब्दसे शरीरयुक्त आत्मा समझना और चेष्टाश्रय शरीर समझना और चेष्टामें जो चेष्टात्व धर्म है वह जातिविशेष समझना ऐसा विकारका अर्थ करनेसे भाव लक्षणमें अननुगम नहीं होगा यह बात ग्रन्थकारभी आगे स्फुट करेंगे। यह जो भावलक्षण है सो सात्त्विक भावमेंभी स्थायिभावादिके समान ही रहैगा इस हेतु व्युत्पत्त्यन्तरसे भावपद प्रयोग करना उचित नहीं। और ग्रन्थकारने "रसस्य हेतवो भावादयः" यहां भावादिशब्दका प्रयोग कियाहै और "भावादय एव निरूप्यन्ते" यहाँभी भावादि शब्दका प्रयोग किया है तो भावादिशब्दका जो अभ्यस्त पाठ किया इससे भाव और भावभिन्न जो रसका हेतु उसका मैं निरूपण करताहूं ऐसा कहनेवाले जो ग्रन्थकार हैं उनको सर्वसाधारण भावपदप्रयोग इष्ट नहीं है विकारमात्र भाव कहैं तो ओलाका विकार जो जल वह भी भाव कहावैगा इससे रसानुकूल यह पद दिया, रसानुकूलमात्र कहैं तो विभावादिभी रसानुकूल होनेसे भाव होजायंगे इसलिये विकारपद दिया। स्थायिभावों को रसान्तरमें व्यभिचारिता होनेसे रसानुकूलताहै ही इससे अव्याप्ति दोष नहीं होगा सो जानना।

अब आन्तरभावाद्यन्यतमको लक्ष्यतावगतिसे प्राप्त हुई जो अन्यजातीय भावमें अतिव्याप्तिशंका उसका अपाकरण करनेकी है इच्छा जिनको ऐसे जो ग्रन्थकार सो लक्ष्यताज्ञानोपयुक्त विभाग दिखातेहैं "विकारश्च" इत्यादि ग्रन्थसे।

द्विविधः । स्थायिभावो व्यभिचारिभावश्चेति। शारीरस्तु सात्त्विकभावादिः ॥ यत्तु मनोविकारो भावः ॥ तथा च देहविकारे स्वेदादौ भावपदप्रयोगो गौण इति॥ तन्नातुल्यवदुभयत्र भावपदप्रयोगेण विनिगन्तुमशक्यत्वात् । लक्षणाऽनुरोधेन लक्ष्याऽव्यवस्थितेः ॥

किसी पुस्तकमें 'सात्त्विकभावादयः' ऐसा पाठ है तहाँ आदिपदका प्रयोजन यह है कि स्तम्भस्वेदादि जो आठ सात्त्विक भाव कहेहैं उनमें जृम्भाकी गणना नहीं की है । ता जृम्भाका सात्त्विकभावमें संग्रह होवो ऐसा हुआ तो स्थायिभाव, व्यभिचारिभाव, सात्त्विकभाव ये तीनों ही भाव लक्षणके लक्ष्य हैं और जातिके भाव अलक्ष्य ही हैं। तहाँ इस लक्षणकी सत्ता नहीं है इस हेतु अतिव्याप्त्यादि कोई दोषभी नहीं है। अब आन्तर भाव शारीर भाव दोनोंमें एक धर्मकी असंभावना करनेवाले मनोविकारमात्रको भावलक्षणका लक्ष्य कहनेवालोंके मतसे लक्षण "यत्तु" इत्यादि ग्रन्थसे कहतेहैं। इनके मतमें मनका जो विकार सो ही भाव है ऐसा लक्षण हुआ तो देहविकार जो सात्त्विक भाव उसमें इस लक्षणके नहीं रहनेसे वह अलक्ष्य है परन्तु सात्त्विक भावमें भी भावपद प्रयोग है ताके निर्वाहके लिये वहाँ भावशब्दका विकारमात्ररूप लाक्षणिक अर्थ करना। ऐसा अर्थ करनेसे सात्त्विकभावभी भाव कहा जायगा। प्रकृत जो भाव है सो वे नहीं हैं सो जानना । इसका खण्डन "तन्न" इत्यादि ग्रन्थसे करतेहैं । इसका यह अभिप्राय है कि तुल्यरूप करिकै आन्तर विकार और शारीर विकार दोनों ही में भावपदप्रयोग है इस हेतु विनिगमना करनेमें शंका नहीं है । एकतर पक्षपातिनी युक्तिको विनिगमना कहते हैं सो विनिगमना यहाँ नहीं प्राप्त होती है। कदाचित् यह कहो कि, हमारा जो लक्षण सो सात्त्विकभावमें अप्राप्त है इसलिये सात्त्विकभाव लक्ष्य नहीं है । यह कहना अनुचित है क्योंकि लक्षणके अनुरोधसे लक्ष्यकी व्यवस्था नहीं होतीहै किन्तु उभयत्र भावपदप्रयोग होनेसे दोनोंही भाव हैं । लक्ष्यतावच्छेदक भावपदवाच्यत्वही मानना होगा वह दोनोंमें ही है इस हेतु दोनोंही लक्ष्य हैं । इसलिये भावलक्षणमें जो विकारपद है इससे चित्तविकार कायविकार दोनोंका प्रागुक्त रीतिसे अनुगम कियाहै सो युक्तही है ॥ "सजातीयविजातीयैरतिरस्कृतमूर्तिमान् । आत्मभावं नयत्यन्यान्स्थायी तु लवणाकरः॥" इस प्राचीन वाक्यमें एकैक भागमात्रके लक्षणत्व होनेसे तदितरभागको

इतरभावस्यात्मभावत्वोपनायकत्वे सति सजातीयविजातीयभावानभिभाव्यः प्रथमः । पराऽनभिभाव्यो मनोविकारो

वैयर्थ्यापत्तिदोष होताहै । इसलिये यह प्राचीन वाक्य लक्षणद्वयतात्पर्यक है यह कहनेके लिये उस वाक्यका अनुवाद करतेहैं "इतरभावस्य" इत्यादिवाक्यसे । यहाँ इतरपद स्वरूपकीर्तनहै भावको इतनाही अर्थ विवक्षितहै । आत्मभावत्वोपनायकत्वका यह अर्थहै कि अपनी स्वरूपताका प्रकाशकत्व ऐसा हुआ तो सत्यन्तका यह अर्थ हुआ कि भावको आत्मस्वरूपताका प्रकाशक होय उसको स्थायिभाव कहना, उत्तरपदका यह अर्थ है कि रतिका सजातीय जो रत्यादि और विजातीय जो निर्वेदादि ताकरिके अनभिभाव्य होय अर्थात् सजातीय विजातीय भावका जो असाधारण धर्म्म उस धर्म्मसे जो उसका ज्ञान उसकी प्रतिबन्धक जो सामग्री उस सामग्रीसे सम्पन्न है आस्वाद जिसका ऐसा स्थायिभाव है । विचार करो कि जहां काव्यप्रविष्ट तत्तत्पदार्थ सहृदयहृदयप्रविष्ट होकरिके सहृदयकी सहृदयतासहकारकरिके तत्तत्पदार्थका जो विभावन अनुभावनरूप व्यापार ताकरिके वह पदार्थ अपने अपने असाधारण धर्म्म अर्थात् कारणत्व कार्यत्वादि धर्मका त्यागकरिके प्रकाशित होतेहैं इस रीतिसे प्रकाश होनेहीसे शास्त्रीय विभाव अनुभाव व्यभिचारिभाव शब्दकरिके वह पदार्थ कहेजातेहैं । पश्चात् वह आलम्बन कारण उद्दीपन कारण और कार्य और सहकारी ये तीनोंही मिलकरिके रतिकी चर्वणा होतीहै तहाँ जिस प्रकार पानक रसमें भिन्नजातीय रस पृथक् पृथक् प्रतिभासित नहीं होतेहैं इसही प्रकार यहांभी विभावादि रत्यादि विना प्रतिभासित नहीं होतेहैं किन्तु रत्यादिरूपकरिके ही प्रतिभासित होते हैं । इस हेतु उक्त सामग्रीसम्पन्नचर्वणाकस्थायिभाव होतेहैं । इस स्थायिभावलक्षणवाक्यको लक्षणद्वयतात्पर्यकता होनेसे भी विशेष्यदलमें अर्थात् सजातीयविजातीयभावानभिभाव्यत्वदलमें साजात्यादिकी संघटना व्यर्थ है इसलिये उस भागको त्याग करिके विशेष्यदलका परिष्कार करतेहैं "पराऽनभिभाव्यो मनोविकारो वा इस ग्रन्थसे" इसका अर्थ पूर्व कहही चुकेहैं. 'सजातीयविजातीयभावाऽनभिभाव्यः' इसका अर्थ करनेसे सो जानना चाहिये । इस लक्षणका यदि स्थायिभावेतरभावानभिभाव्यत्व अर्थ करैं तो स्थायिभावकेलक्षणमें स्थायिभावका प्रवेश होनेसे आत्माश्रय दोष होगा इसलिये स्वेतरानभिभाव्यत्व ऐसा अर्थ करैं तो यहाँ स्वशब्दका प्रवेश होनेसे लक्षण अननुगत होजायगा इसलिये विशेष्यदलको छोड करिके सत्यन्त दलका अर्थात् इतरभावस्यात्मभावत्वोपनायकत्वे

वा सकलप्रधानो विकारो वा स्थायिभावः ॥ न चान्यभावेऽतिव्याप्तिः । तस्येतरभावस्यात्मभावत्वोपनायकत्वाभावात्

सति इस दलका परिष्कार करते हैं "सकलप्रधानः" इत्यादि वाक्यसे । इसका अर्थ यह है कि सकल मनोविकारमें जो प्रधानभूत है सो स्थायिभाव है स्थायिभावको प्रधानतावस्तु यह है कि स्वस्वरूपताकरिकै इतरभावका ज्ञापकत्व इसका अभिप्राय यह है कि इतरभावमें स्थायिभावका आरोप होता है इस आरोपमें इतरभाव तो विशेष्य होताहै स्थायिभाव विशेषण होता है । ऐसा हुआ तो इतरभावविशेष्यक आरोपप्रकारत्वही प्राधान्य समझना ऐसा हुआ तो सत्यन्त दलका यह अर्थ है कि इतरभावविशेष्यक आरोपप्रकार होत सन्ते विभाव अनुभाव व्यभिचारिभाव एतदन्यतमाभावसहित होकरिकै अन्यतमसम्पन्नचर्वणाक होय वह स्थायिभाव है । यह स्थायिभाव सामान्यलक्षण जानना । अब यहाँ सत्यन्तका प्रयोजन नचेत्यादिवाक्यसे दिखाते हैं । इस वाक्यका यह अर्थ है कि जो सत्यन्त नहीं ग्रहण करैंगे तो अन्य भाव अर्थात् सात्त्विकभावमें अतिव्याप्ति होजायगी क्योंकि सात्त्विकभावभी उक्तान्यतमाभावसहित होताहै और उक्तान्यतमसम्पन्नचर्वणाक होताहै क्योंकि स्थायिभावकी जैसे चर्वणा होतीहै तैसे ही सात्त्विकभावकी भी चर्वणा होतीहै इस हेतु तहाँ अतिव्याप्ति होगी इस हेतु सत्यन्त देना । सत्यन्त दियेसे अतिव्याप्ति नहीं होती है यह बात "तस्य" इत्यादि वाक्यसे कहतेहैं इस वाक्यका यह अर्थ है कि उस सात्त्विक भावको इतरभावको आत्मभावोपनायकता नहीं है इसका अभिप्राय यह है कि सात्त्विकभाव वस्तुको आन्तरभावविशेष्यक आरोपप्रकारत्व नहीं है क्योंकि सात्त्विक भावका आरोप इतरभावमें नहीं होता है और स्थायिभावका सम्पूर्ण इतरभावमें आरोप होताहै इसलिये उक्त प्राधान्य स्थायिभावकोही है सात्त्विकभावको नहीं है । इसलिये अतिव्याप्ति नहीं हुई सो जानना । यहाँ विशेष करिकै प्रकारता विशेष्यताका उपादान नहीं करे किन्तु विषयतामात्रका उपादान करै तो व्यभिचारिभावमें अतिव्याप्ति होगी क्योंकि व्यभिचारिभावको भी आन्तर भाव अर्थात् स्थायिभावनिष्ठविषयतानिरूपितविषयताश्रयत्व है इसलिये ऐसा कहना चाहिये आन्तरभावनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारताश्रयत्व ऐसा कहनेसे व्यभिचारिभावमें अतिव्याप्ति नहीं होगी क्योंकि, आन्तरभावनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारताश्रयत्व व्यभिचारिभावमें नहीं है क्योंकि व्यभिचारिभावका कहीं आरोप होता तो यह दल वहाँ रहता सो आरोप नहीं होता है किन्तु स्थायिभावकाही आरोप होताहै इससे उक्त प्राधान्य व्यभिचारिभावमें भी नहीं है सो जानना । यहां विशेष्यदलका

चरमसमयपर्यन्तस्थायित्वादस्य स्थायित्वव्यपदेशः ।

उपादान नहीं करें तो आन्तरभावमें जब घटका आरोप होगा तहां उक्त प्राधान्य घटमेंभी रहेगा इससे उक्तान्यतमसम्पन्नचर्वणाक यह विशेषण दिया । तब घटमें अतिव्याप्ति नहीं हुई क्योंकि घटको उक्तान्यतमसम्पन्नचर्वणाकत्व नहीं है यही सहितान्तका अनुपादान करें तो रसमें अतिव्याप्ति होगी क्योंकि रसको भी अन्यतमसम्पन्नचर्वणाकत्व है इस हेतु सहितान्तविशेषण दिया तब रसमें अतिव्याप्ति नहीं हुई क्योंकि रस अन्यतमाभावसहित नहीं होता है चर्वणामें अन्यतमसम्पन्नत्वका अनुपादान करें तो घटमें अतिव्याप्ति होगी क्योंकि उक्त प्राधान्य घटमें है ही और घट अन्यतमाभावसहित भी है और घटकी चर्वणाभी होसक्ती है इस हेतु अन्यतमसम्पन्नत्व विशेषण दिया ऐसा हुआ तो घटके अन्यतमसम्पन्नचर्वणाकत्व नहीं है इससे अतिव्याप्ति नहीं होगी ऐसी व्यवस्था हुई । तो शेष भागको वैयर्थ्य होकरिके दो लक्षण स्थायिभावके हुए यह जानना ।

अब यहाँ यह शंका हुई कि मनोवृत्तिविशेषरूप स्थायिभावको शीघ्रतरविनाशित्व होनेसे स्थायित्व कैसे होगा । इसका समाधान "चरम" इत्यादि वाक्यसे कहतेहैं। वाक्यार्थ यह है कि स्थायिभावका जो सूक्ष्म अवस्थाकाल उसहीका नाम चरमसमय है । और स्थायिभावका नाशक्षण जो है सो चरमसमय नहीं समझना क्योंकि सत्कार्यवादीके मतमें सम्पूर्ण पदार्थ सत्‌रूपही हैं उनके मतमें नाश कोई पदार्थका नहीं है ऐसा हुआ तो रत्यादिकभी सूक्ष्मरूप जो वासना तद्रूपतासे स्थित रहतेहैं इससे उनको स्थायित्वव्यवहार होताहै । इसमें प्राचीन वाक्यभी प्रमाण है कि "सजातीयैविजातीयैरतिरस्कृतमूर्तिमान् ॥ यावद्रसं वर्तमानः स्थायिभाव उदाहृतः" इसका अर्थ यह है कि सजातीय-विजातीय-भावकरिके अनभिभाव्यमूर्तिके व रससमयपर्यन्तवर्तमान ऐसे स्थायिभाव कहेजाते हैं । इन वाक्योंसे भी यही पर्यवसन्न होताहै कि रससमयपर्यन्त सूक्ष्मरूपकरिके स्थित होनेसे रत्यादि स्थायिभाव कहाते हैं यह व्याख्या प्राचीन मतकी है। नवीनमतसे तो चित्तवृत्तिविशेषरूप रत्यादि स्थायिका नाश होनेपरभी वासनापरपर्यायक जो तज्जन्य संस्कार अथवा नहीं नाश होनेपरभी रत्यादिकी वासनारूपसे स्थिरता होनेसे जो स्थायित्वव्यपदेश किया सो स्थायित्व व्यभिचारिभावमें भी प्राप्त है । वहभी स्थायी कहावेंगे इस हेतु वासनारूप रत्यादिकी जो वारम्वार अभिव्यक्ति होना सो ही स्थिर पदार्थहै। व्यभिचारिभावकी रससमयमें बारम्बार अभिव्यक्ति नहीं होतीहै । व्यभिचारिभावकी अभिव्यक्तितो विद्युद्द्योतप्रायहै । स्थायिभावकी तो रससमयमें अभिव्यक्ति होतीही रहतीहै इसलिये इनको

स चाष्टधा। तत्र भरतः–

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा॥

जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः॥ ९॥

तत्रेष्टवस्तुसमीहाजनिता मनोविकृतिरपरिपूर्णा रतिः। सा च क्वचिद्दर्शनेन, क्वचिच्छ्रवणेन, क्वचित्स्मरणेन। यथा–

स्थिरता हुई इस हेतु ये स्थायी कहातेहैं कोई 'रत्याद्यन्यतमत्व' स्थायीका लक्षण करते हैं सो युक्त नहीं जानना क्योंकि करुणरसका काव्यमें रति व्यभिचारीभाव कहाजाताहै। वहाँ भी रतिमें यह अन्यतमत्वरूप लक्षण प्राप्त होगा तो वहाँभी रति स्थायिभाव कहाजायगा। इसका उदाहरण–"विच्छिन्नबाहुं पतितं पुरस्तादागत्य भूरिश्रवसं समीक्ष्य। प्रेम्णा समालिङ्गितबाहुखण्डं विमुक्तकण्ठं विललाप बाला॥" यहां प्रेमशब्दमात्रकरिके प्राप्त जो रति सो करुणा रसका व्यभिचारीहै सो जानना। और जहाँ प्रधानभूत करुणाकी पुष्टताके अर्थ रतिभी पुष्ट कीजाय तहाँ रसवदलङ्कारही है जिसप्रकार–"अयं स रसनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः॥ नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः॥" यहाँ भुजखण्डावलोकनोद्दीपित प्रतीयमानरोदनाद्यनुभावित रतिरूप जो शृङ्गार सो करुणाके पोषणके अर्थ पुष्ट कियागयाहै इसलिये यह रति अलंकाररूप है और स्थायीरूप नहीं है॥

अब स्थायिभावका विभाग "स च" इत्यादिवाक्यसे करतेहैं। वाक्यार्थ यह है कि वह स्थायिभाव आठ प्रकारका है इस विभागमें भरतजीने भी अपना वाक्य प्रमाण दिखाया है। यद्यपि शान्त रसका स्थायिभाव जो निर्वेद है सो भी यहां ही परिगणनके योग्य है तथापि स्वतन्त्रेच्छ जो भरत मुनि उन्होंने व्यभिचारिभावमेंही निर्वेदकी गणना की और भक्त्यादि जो हैं सो भावही हैं रस नहीं हैं यह बात आगे कहेंगे। आठ प्रकारके स्थायिभावमें प्रथम कथित जो रति उसका लक्षण करतेहैं "तत्र" इत्यादि वाक्यसे। इस वाक्यका यह अर्थ है कि उन स्थायिभावोंमें ऐसी मनोविकृतिको रति कहना कैसा, सो कहतेहैं कि मनके अनुकूल जो वस्तु तद्विषयक जो इच्छा(वह इष्ट हमको होय इत्याकारक इच्छा) तज्जनितप्रेमरूप करके सो नहीं पूर्ण हुई अर्थात् रसभावको अप्राप्त अभिप्राय यह है कि स्त्रीपुरुषमें परस्परालम्बन जो प्रेमाख्यचित्तवृत्तिविशेष सो रति है वहां सम्पूर्ण स्थायिभावके लक्षणमें अपुष्टार्थत्वविशेषण देदेना इससे रसमें अतिव्याप्ति दोष नहीं होताहै सो जानना। वह रति कहीं दर्शनसे, कहीं श्रवणसे, कहीं स्मरणसे होतीहै॥ रतिका उदाहरण

चक्षुर्यस्य कृषीवलो निगदितं पीयूषपाथोधरो
भ्रूसंज्ञा परिचारिका समजनि स्फीतं स्मितं दोहदम् ।
सन्तापं तरुणार्ककर्कशरुचिं निःश्वासवाताहतिं
कस्मादेष सहिष्यते स च सखि प्रेमद्रुमः कोमलः ॥ ६ ॥

अत्र कोमलपदादपूर्णता ।

"चक्षुर्यस्य" इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं।नायकसखीके प्रति नायिकासखीका यह वचन है। श्लोकार्थ यह है कि हे सखी ! वह जो ये अर्थात् अत्यन्त उपादेयताकरिके अनुभवका विषय इसही हेतु कोमल अर्थात् संभाव्यमानबहुविघ्नयुक्त प्रेमरूप वृक्ष सो मध्याह्नजृम्भमाणचण्डांशुवत् प्रचण्ड जो सन्ताप अर्थात् कामज्वर उसको और निश्वासरूप पवनकी ताडनाको किसके बलसे सहनेमें समर्थ होगा । वह प्रेमद्रुम कौन, सो कहतेहैं, जिस प्रेमद्रुमका नेत्र मनोरूप भूमिका आकर्षक होनेसे खेती करनेवालाहै । और वचन जो है सो अमृतका मेघ है । और भ्रूसंज्ञा कहिये भ्रूविलास जो है सो परिचारिका अर्थात् खेती करनेवालेकी सेविका है । और स्फीत कहिये समृद्ध अर्थात् वृद्धिको प्राप्त जो स्त्री पुरुषका परस्पर स्मित अर्थात् मन्दहास वह दोहद अर्थात् गर्भ है । यह कहनेका यह अभिप्राय है कि विना समयभी स्वेच्छाविहाररूप फलसम्पादक होनेसे यह स्मित गर्भरूप है ॥ यहाँ कोई कहते हैं कि पुनरागमनमन्थर जो प्रिय उसके प्रति सखीके प्रेषण करनेकी कामनावाली जो नायिका उसका यह वचन है । स्थायिभावका उदाहरण यह नहीं बन सकताहै । क्योंकि यहां कस्मात् इस पदसे चिन्तारूप व्यभिचारिभाव प्रतीत होताहै और निश्वासरूप अनुभाव प्रतीत होताहै । यह व्यभिचारिभाव अनुभावकरिके युक्त नायिकागत विप्रलम्भ शृंगारही प्रतीत होताहै । रतिरूप स्थायिभावमात्र यहां प्रतीत नहीं होताहै।फिर यह उदाहरण स्थायिभावका कैसे होगा ?इस शङ्काका समाधान कोई इस तरह करतेहैं कि "विभावानुभावव्यभिचारिभावोंके योगसे रसनिष्पत्ति होती है" एतदर्थप्रतिपादक भरतसूत्रमें मिलितको रसव्यञ्जकताका कथन है इसलिये यहां रसकी प्रतीति किस प्रकार होगी ? क्योंकि आलम्बनविभावरूपनायकका उपादान यहां नहीं है । यह समाधान युक्त नहीं क्योंकि आलम्बनविभावका उपादान नहीं है तो भी चिन्तारूप व्यभिचारिभाव निःश्वासरूप अनुभाव इन दोनोंके बलसे नायकरूप आलम्बनविभावका आक्षेप होसकताहै फिर रसका उदाहरण बनही जायगा फिर स्थायिभावका उदाहरण किस तरह कहा ? इसका समाधान कोई इस तरहभी करतेहैं कि चिन्तारूप व्यभिचारिभाव निःश्वासरूप अनुभाव ये दोनों विप्रलम्भशृंगार और करुणा और भयानक तीनों रसोंमें

कुतूहलकृतवचनवेषवैसादृश्यकृतो मनोविकारः-

साधारण हैं । इसलिये एकतर आलम्बनके आक्षेपमें नियामक नहीं होसकेंगे इसहीसे यह स्थायिभावका उदाहरण होसकेगा यह भी युक्त नहीं । क्योंकि यहां जिस प्रेमरूप वृक्षके नेत्र खेती करनेवालेहैं, इत्यादि वाक्यकरिके नायिकाकृतसादरावलोकनाकृष्ट मनःप्ररूढ प्रेमवृक्षादिज्ञानरूप सहकारीकरिकै उक्त व्यभिचारिभाव अनुभाव बलकरिके नायकहीका आक्षेप होगा क्योंकि इस श्लोकमें हास्याभिव्यञ्जक जो स्मितहै उसकी करुणभयानकादिमें अत्यन्त प्रतिकूलताहै इसलिये यहीं रसका उदाहरण बन सकताहै स्थायिभावमात्रका नहीं बन सकता । यहां कदाचित् यह कहो कि आक्षेपसे रसकी प्रतीति नहीं होतीहै । तो यह कहना युक्त नहीं क्योंकि आक्षेपसे भी रसप्रतीतिका उपपादन आलंकारिकधुरंधरभट्टाचार्यने किया है । काव्यप्रकाशके चतुर्थोल्लासमें यह कहाहै कि "वियदलिमलिनाम्बुगर्भमेघम्"इत्यादि श्लोकमें आलम्बनोद्दीपनविभावमात्रका कथन है और "परिमृदितमृणाली" इत्यादि श्लोकमें अंगमालिन्याद्यनुभावमात्रका कथन है । और "दूरादुत्सुकमागते विगलितं संभाषिणि स्फारितम्" इत्यादि श्लोकमें उत्सुकादिविशेषणव्यंग्य औत्सुक्य, लज्जा, हर्ष, क्रोध, असूया, प्रसाद इन व्यभिचारिमात्रोंका कथन है फिरभी यहीं आक्षेपसे रसप्रतीति होतीहै । इन तीनोंही श्लोकोंकी व्याख्या "गूढार्थदीपिका" नाम काव्यप्रकाशकी व्याख्यामें करदी है यहां विस्तारभयसे नहीं लिखतेहैं । इसलिये उक्त प्रश्नका यह समाधान है कि प्रकृत श्लोकमें जो कोमल पद दियाहै सो कोमलपद रतिमात्रतात्पर्यका निर्णायक है । इसलिये यहां आक्षेप नहीं होताहै इसही अभिप्रायसे ग्रन्थकारने कहा है कि 'कोमलपदादपूर्णता' अपूर्णता यहीहै कि विभावानुभाव व्यभिचारिभावान्यतमका यहां विरहहै सो जानना । अब यहाँ यह शंका होतीहै कि यह कोमल पद नहीं भी होय तोभी प्रेमको स्वशब्दोपात्तता होनेसे वमनाख्य दोष होनेसे रसत्वका अभाव होनेसे स्थायिभावका उदाहरण संगतही होगा । इस शंकाका यह समाधान है कि भरतसूत्रमें रसाभिव्यञ्जनमें तीनका ही उपादान है इसलिये वमनदोषकी रसताके विरोधमें प्रमाण नहीं है इससे यहां रस हो ही जायगा । इसलिये यह व्यवस्था करनी चाहिये कि जहाँ अन्यतरके अनुपादानमें भी अन्यतराक्षेपका प्रतिबन्धक कथित होय वही स्थायिभावका उदाहरण होताहै । ऐसा हुआ तो प्रकृत श्लोकमें अन्यतराक्षेपका बाधक कोमल पदहै इससे यह स्थायिभावकाही उदाहरण है. रसका नहीं सो जानना ।

अब हासरूपस्थायिभावका लक्षणभरतजीकहतेहैं "कुतूहलकृत" इत्यादि सूत्रसे।सूत्रका

परिमितो हासः॥वचनभेदवेषभेदकृते भयक्रोधे नातिव्याप्तिः॥
तत्र कुतूहलकृतत्वाभावात् । यथा–तातचरणानाम् ॥
आगच्छन्नगरोपकण्ठमिलितैरावेष्टितो बालकैः
शुद्धान्ते परिचारिकाभिरचिरं सोल्लासमावेदितः ॥

अर्थ यहहै कि कुतूहलोद्देश्यक जो वचन वा वेषकी विसदृशता अर्थात् वैचित्र्य तज्जन्य जो अपरिपूर्ण मनोविकार सो हास है इस लक्षणमें कुतूहलकृत पद नहीं देवें तो अतिव्याप्तिरूप दोष होताहै सो दिखातेहैं "वचनभेद" इत्यादि वाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि वचनके वैचित्र्यसे और वेषके वैचित्र्यसे जनित जो भय और क्रोध वहभी वचन वेष वैसादृश्यकृत मनोविकारहै तो वहभी हास कहावेगा। इस हेतु 'कुतूहलकृत' यह विशेषण दिया। यह विशेषण वचन वेषवैसादृश्यका है ऐसा हुआ तो जहां भय वा क्रोधके अर्थ वचनभेद वा वेषभेद होताहै सो कुतूहलोद्देश्यक नहीं होताहै इस हेतु वहां अतिव्याप्ति दोष नहीं हुआ यहही बात "तत्र" इत्यादि वाक्यसे कहीहै सो जानना। अब यहां यह शंका होती है कि कुतूहलोद्देश्यक भी जो वचन वैसादृश्य उससे कदाचित् भय क्रोधका सम्भव होता है तो फिर भी भयक्रोधमें अतिव्याप्ति दोष रहे होगा इस अतिव्याप्तिके वारणार्थ जो तुम ऐसा लक्षण कहोगे कि कुतूहलोद्देश्यक जो कुतूहलफलोपहित वचन वेषवैसादृश्य, तज्जन्य जो मनोविकार सो हास है ऐसी विवक्षा करनेसे भयक्रोधमें अतिव्याप्ति नहीं होगी क्योंकि भयक्रोधजनक जो वचन वेषवैसादृश्य है सो कुतूहलफलोपहित नहीं है क्योंकि जिस वचनवेष-वैसादृश्यका उत्तरकालमें कुतूहल सम्पन्न होय वह वचन वेषवैसादृश्य कुतूह-लफलोपहितक होताहै, ऐसा हुआ तो भयक्रोधका सम्पादक जो वचन वेष वैसादृश्य सो कुतूहलफलोपहित नहीं हुआ इस हेतु भयक्रोधमें अतिव्याप्ति नहीं होगी परन्तु वह विशेषण देनेसे वा नहीं देनेसे दोनोंही पक्षमें होसके लक्षणमें कुतूहलपदार्थका जो प्रवेश है सो कुतूहलपदका अर्थ हासहीहै। तो हासके लक्षणमें हासका प्रवेश होनेसे आत्माश्रय दोष होताहै इस हेतु निर्दोष लक्षण करना चाहिये। इसका समाधान यह है कि विकासरूप जो चित्तवृत्ति विशेष उसहीमें कुतूहलकृत इस विशेषणका अभिप्राय है इसलिये वचन विकार दर्शनजन्मा जो विकास सो हासहै यह अर्थ फलित हुआ यहां आत्माश्रय दोष नहीं है और अतिव्याप्ति दोषभी नहीं है सो जानना अब हासस्थायिभावका उदाहरण "आगच्छन्", इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं। यहां यह शंका होतीहै कि यहां 'तातचरणानाम्' यह पद देनेका क्या तात्पर्य है इसका समाधान कोई यह कहतेहैं कि अपने पिताका

साकूतं सकुतूहलं बलिवधूवृन्दे पुरो दापय-
त्यन्नं किञ्चिदुदञ्चितस्मितलवः पायात्स वो वामनः ॥ ७ ॥
लवपदादपूर्णता ।
इष्टविश्लेषजनितो रत्यनालिंगितः परिमितो मनोविकारः-

पाण्डित्यख्यापनार्थ 'तातचरणानाम्' यह पद दिया, यह कथन समीचीन नहीं। श्लोक रचना करनेहीसे पाण्डित्य नहीं होताहै, बहुत ईषद्विद्याभी श्लोक बनातेहैं किन्तु इसका समाधान यह है कि अन्यकृत श्लोकका उदाहरणोपन्यास करनेसे 'असमत्पद्येन' इत्यादि जो ग्रन्थशेषमें श्लोक है उससे विरोध होजायगा, उस विरोधाभावका उपपादन 'तातचरणानाम्' इससे किया। अभिप्राय यहहै कि हमारे पिताका है तो हमाराही है।

श्लोकार्थ यह है कि राजाके प्रति कवि आशीर्वाद देता है कि, वह जो वामन सो आपकी रक्षा करो, कैसा है वह वामन, नगरके समीपमें मिलेहुए अर्थात् प्राप्त हुए जो समुदित बालक तिनसे कौतुक देखनेकी इच्छासे वेष्टित ऐसा आगमन करता हुआ उसही समय अर्थात् देखनेके कालमें ही दासियोंने अन्तःपुरमें बलि-वधूवृन्दमें हर्षके साथ जैसे होय तैसे आवेदित अर्थात् निवेदन कियागया। फिर कैसा है वामन, बलिवधूवृन्द जो है सो साकूत अर्थात् वामनका जो वृत्तान्त परीक्षा उस परीक्षागर्भ जैसे होय तैसे और सकुतूहल अर्थात् वामनाकार समवलोकन-जनित कौतुकपूर्वक जैसे होय तैसे दासियोंसे अन्न दिवावतीहै ऐसे होत सन्ते 'किञ्चिदुदञ्चितस्मितलवः' अर्थात् वामनने यह विचार किया कि तीनोंलोकोंकी भिक्षा ग्रहणार्थ यह रूप धारण करनेवाला जो मैं हूं उसकूं चेटीकेद्वारा परिमित अन्न देतीहैं यह विचार करिके थोडा उल्लसित जो हासका अनुभावभूत किञ्चित् आस्यस्पन्द सो है जिसकूं ऐसा। यहां यद्यपि वामनदर्शनजन्य अन्नदानाद्यनुभावयुक्त जो बलिव-धूवृन्दनि[illegible] हास सो परिपूर्ण देखतेहैं और सुनो कि वामनमुखविकासकारिके आक्षिप्त जो वि[illegible]वादि उससे वामननिष्ठ जो हास है सोभी परिपूर्ण है यह कहसकतेहैं तथापि लवपदप्रकाशित जो अपरिपूर्णता सोही पूर्वोक्त युक्तिसे वामनगत हासमें विश्रामको प्राप्त होतीहै इस हेतु उदाहरण यहां बन जायगा यही बात 'लवपदात्' इत्यादि वाक्यसे कहते हैं।

अब शोकरूप स्थायिभावका लक्षण "इष्टविश्लेषजनितः" इत्यादिवाक्यसे कहते हैं। वाक्यार्थ यह है कि इष्टजनके वियोगसे उत्पन्न रतिसे अयुक्त ऐसा जो अपरि-पूर्ण मनोविकार वह शोक है। यहां इष्ट शब्दार्थ इच्छाविशिष्ट नहीं समझना, इच्छोपलक्षित समझना, यह कहनेसे मृतव्यक्ति इच्छाभावका प्रतिपादक 'तत्र तत्र

शोकः ॥ न चेष्टविश्लेषजनितविप्रलम्भशृङ्गारस्य करुण-रसत्वापत्तिः ॥ तस्य रत्यालिङ्गितत्वात् ॥ न च रतिः प्रीतिः तया विना शोकोपि नोत्पद्यते इति तथा चासम्भव इति वाच्यम्, इष्टसमीहाजनितमनोविकृतेरेव रतेरुक्तत्वात्। कुमारसम्भवे रत्याः, कादम्बर्य्यां महाश्वेतायाः, रघुकाव्येऽजस्य,-प्रलापे करुण एव रसः ॥

ावनिश्चयात्' इत्यादि ग्रन्थभी संगत होता है यह वार्ता आगे वहांके व्याख्यानमें फुट होजायगी। अब रत्यनालिंगित यह जो विशेषण दिया इसका प्रयोजन शंका-समाधानपूर्वक कहते हैं "न च" इत्यादि ग्रन्थसे। इसका अभिप्राय यह है कि इष्ट वियो-गसे उत्पन्न जो विप्रलम्भ शृंगार उसमें शोकलक्षणकी अतिव्याप्ति नहीं होगी क्योंकि स स्थलमें जो मनोविकार है सो रतिसे युक्त है और शोकलक्षणमें रत्यनालिंगित द है तो विप्रलम्भ शृंगारको रत्यनालिंगितत्व नहीं है।

अब यहां यह शंका होतीहै कि रति नाम प्रीतिका है उसका प्रयोज्य जो नहीं होय सो रत्यनालिंगित कहाताहै ऐसा हुआ तो शोक भी प्रीति विना नहीं होताहै तो शोकको भी रत्यालिंगितत्व होनेसें रत्यनालिंगितत्व विशेषण नहीं रहेगा तो असम्भव दोष इस लक्षणमें होगा यही बात 'न च' इत्यादि ग्रन्थसे कही है। इसका समाधान "इष्टसमीहा" इत्यादि ग्रन्थसे करतेहैं। इसका अभिप्राय यह है कि शोकलक्षणमें जो रतिपद है सो इष्ट वस्तु समी-हाजनितमनोविकृतिरूप है ऐसी जो रति है उससे युक्तत्व शोकरूप मनोविकृतिको नहीं है क्योंकि शोकस्थलमें इष्ट वस्तुकी इच्छा नहीं होतीहै इस हेतु शोकको रत्यनालिंगितत्व है तो असम्भव दोष नहीं होगा इसी हेतुसे जहाँ मृत पुरुषमें जीवि-ताशाहै तहाँ रति तो प्रधान है शोक अप्रधान है इस हेतु शोकमें रत्यनालिंगितत्व नहींहै इस हेतु वहाँ विप्रलम्भ शृङ्गारहै। और जहाँ जीवत्में भी मृतत्वनिश्चय है तहाँ शोकरूप विकार पूर्वोक्तरतिसे अनालिंगित है इसहेतु वहाँ करुणकाभी निर्वाह होजा-यगा। प्रथमस्थलमें जो विप्रलम्भ शृंगार कहा उसमें यह अभिप्राय है कि जिस वस्तुमें भावी इष्टसाधनताबुद्धि होतीहै उस वस्तुकी इच्छा होतीहै ऐसा हुआ तो विप्रलम्भशृङ्गारस्थलमें इष्टवस्तुसमीहा है और जहाँ करुणरस कहाहै वहाँ मृतत्वनिश्चय है तो मृतमें भावी इष्टसाधनताबुद्धि नहीं होतीहै फिर वहाँ इच्छा किस हेतुसे होगी? फिर तज्जन्यमनोविकृति कहांसे होगी? फिर शोकरूप विकारको उक्त रत्यालिङ्गितत्व

तत्रतत्र बाधनिश्चयादिष्टवस्तुसमीहाया अभावात्। यत्र च मृते जीविताशा तत्र शृङ्गार एव रसः, बाधसंदेहस्य ग्राह्यसंदेहपर्यवसिततया समीहाया अप्रतिबंधकत्वात् ॥

नहीं होगा, इससे वहाँ करुण रस होगा इसी हेतु कुमारसम्भव ग्रन्थमें रतिका और कादम्बरी ग्रन्थमें महाश्वेताका और रघुवंशमें अजका जो प्रलाप है उसमें करुणही रस है। महाश्वेताका वृत्तान्त कादम्बरीग्रन्थमें देखलेना इसही अभिप्रायको "तत्रतत्र" इत्यादिग्रन्थसे कहते हैं। इस ग्रन्थका यह अर्थ है कि कुमारसंभवादि ग्रन्थमें रत्यादिके वृत्तान्तमें जीवनाभाव निश्चय होनेसे इष्ट वस्तु समीहा वहाँ नहीं रहतीहै और जहाँ मृतपुरुषमें जीविताशा अर्थात् जीवनसन्देह है तहाँ तो शृंगारही रस है। यहाँ यह शंका होतीहै कि एक व्यक्तिमें जीवन और जीवनाभाव दोनोंका जो जानना वही जीवनसन्देह है तहाँ एक भागमें मरणभी प्राप्त हुआ, ऐसा हुआ तो वह पुरुष मृतत्वसे भी अवगत हुआ तो भावि इष्टसाधनताभावज्ञान वहाँ हुआ उस ज्ञान होनेसे भावि इष्टसाधनताज्ञानाधीन जो इच्छा तज्जन्यमनोविकृतिरूप रति वहां कैसे होगी। ऐसा हुआ तो जीवनसन्देहमें शृङ्गार कैसे कहा? इसका समाधान "बाधसन्देहस्य" इत्यादि वाक्यसे कहते हैं। इस वाक्यका यह अर्थहै कि जहाँ जीवनसन्देहदशाहै तहाँ भाविइष्टसाधनताभावनिश्चय नहीं ही होसकताहै। इष्टसाधनत्वाभावका सन्देह होसक्ताहै सो ही सन्देह बाधसन्देह कहाताहै सो एक भागमें इष्टसाधनता सन्देहरूप है तो वह बाधसन्देह सङ्ग्राह्य जो इष्टसाधनता वस्तु उसका संन्देहरूप होनेसे समीहा कहिये इच्छाका प्रतिबन्धक नहीं होसक्ताहै। जो इष्टसाधनतासन्देह भी इच्छाका प्रतिबन्धक होय तो युद्धमें पुरुषकी प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये वहाँ पुरुषको इष्टसाधनताका सन्देहहै तो वहां इच्छा नहीं होसकैगी तो प्रवृत्ति कैसे होगी? इस हेतु इष्टसाधनतासन्देह इच्छाका प्रतिबन्धक नहीं है यहही मानना चाहिये। और दावानलमें इष्टसाधनत्वाभावनिश्चय होनेसे बाधनिश्चय रहगया इस हेतु वहां इच्छा नहीं होतीहै, इस हेतु प्रवृत्तिभी नहीं होतीहै ऐसा हुआ तो प्रकृतस्थलमें बाधनिश्चय नहीं है किन्तु सन्देह है वह सन्देह समीहाका प्रतिबन्धक नहीं है इस हेतु समीहा होयहीगी तो शृंगार रस होनेमें कोई प्रतिबन्धक नहीं है सो जानना। कोई यह कहतेहैं कि जिस प्रकार मृतत्व करिकै निश्चय रहनेसे ही करुण होताहै तैसे ही जीवितत्व करिकै निश्चय रहनेसे ही विप्रलम्भ होताहै। ऐसा नहीं मानो तो जहां मृतत्व करिकै सन्देह है और जीवितत्व करिकै सन्देह है तहां करुणरसका अवान्तर भेद क्यों नहीं स्वीकार करते हो? जो

१ उन उन पुरुषोंमें भाव इष्टसाधनताभावबुद्धि होनेसे तत्तत्पुरुषविषयक इच्छा नहीं होगी।

तथा च यूनोरेकतरस्मिन् मृते प्रलापः करुणरसः, जीवतोर्विश्लिष्टयोः प्रलापः शृंगारः । अत एव रसरत्नदीपिकायां करुणरसोदाहरणम्-

अयि जीवितनाथ जीवसीत्यभिधायोत्थितया तया पुरः ।
ददृशे पुरुषाकृतिः क्षितौ हरकोपानलभस्म केवलम् ॥ ८ ॥

स्वीकार करोगे तो ऐसे सन्देहस्थलमें जिस रीतिसे मरणज्ञान होनेसे करुणका भेद मानेंगे तैसेही जीवनकाभी तो सन्देह यहां है तो जीवनज्ञान रह जायगा तो शृंगार भी क्यों नहीं मानोगे ? एक माननेमें कोई विनिगमक नहीं इस हेतु ऐसे सन्देहस्थलमें करुणविप्रलम्भाख्य रसान्तरही मानना चाहिये, यह जो मत है सो समीचीन नहीं क्योंकि शृंगारका स्थायी जो रति उसको वियोगकालीन होनेसे विप्रलम्भशृंगार तो मानना ही होगा और करुणका स्थायी तो रत्यनालिंगित शोक है सो यहां रत्यालिंगितत्व होनेसे नहीं वन सकताहै । इस हेतु ऐसे स्थलमें रसान्तर मानना युक्त नहीं यह बात विद्वज्जन सूक्ष्मदृष्टिसे विचार लेवें । यह ही बात "तथा च" इत्यादि ग्रन्थसे स्पष्ट करतेहैं । इस ग्रन्थका यह अभिप्राय है कि युवति युवा इन दोनोंमें एक जब मृत होय तब जो प्रलाप करना है सो तो करुणरस है और विश्लेषयुक्त दोनोंमें जहां जीवितत्व सन्देह है तहां जो प्रलाप वह विप्रलम्भ शृंगार है यावत् जीवनसन्देह है तावत् करुणका प्रसरण नहीं है इसमें प्राचीनकी भी सम्मति दिखातेहैं "अत एव" इत्यादि वाक्यसे । इस वाक्यका यह अर्थ है कि जीवनसन्देहका भी अभाव रहनेसे ही "रसरत्नदीपिका" ग्रन्थमें करुणरसका उदाहरण "अयि जीवित" इत्यादि श्लोक कहाहै । श्लोकार्थ यह है कि हे जीवितनाथ ! जीतेभी हो (यहां अयि यह जो पद है सो दीनताको अभिव्यञ्जित करताहुआ शोकको पुष्ट करताहै) यह कह करिकै उठी हुई जो रति उसने फिरभी पृथिवीमें पुरुषाकृति अर्थात् हस्तपादादिविवेकपूर्वक हरकोपानलजन्य भस्ममात्र देखा अर्थात् जीवनाशाभी नहीं रही । इस श्लोकमें उत्तरार्द्धसे जीवनाशाका अभावज्ञान कराया इस हेतु यह विचार करना चाहिये कि जो जीवनसन्देहमें भी करुणरस होता तो पूर्वार्द्धसे भी जीवनसन्देह सिद्धही था फिर जीवनसन्देहाभावज्ञान करानेके अर्थ उत्तरार्द्धप्रणयन क्यों किया, वह व्यर्थ होजायगा इस हेतु रसरत्नदीपिकाकारको भी जीवनसन्देहमें करुणरसका स्वीकार नहीं है किन्तु सन्देहकाभी अभाव होनेसे स्वीकार है । ऐसा हुआ तो विप्रलम्भशृंगारमें जो करुणाव्यवहार होताहै सो अंगभूत चित्तवैक्लव्यकृतही जानना ॥

नतु विप्रलम्भस्य पूर्वानुरागमानप्रवासकरुणात्मकत्वाज्जीवतोरपि विप्रलम्भस्य करुणरसत्वमायातमिति चेत्। सत्यम्, तत्र करुणारसस्याङ्गत्वेन भासमानत्वात्तत्र करुणात्मकव्यपदेशः ॥ यथा--

अब यहाँ यह शंका होतीहै कि जीवनसन्देहस्थलमें तुल्ययुक्तिसे रतिपुष्ट वैक्लव्यको भी कहसकतेहैं। इस हेतु जहां जीवनसन्देह है तहां शृंगारही है ऐसा अवधारण नहीं करसक्तेहैं क्योंकि जहाँ रति प्रधान है और अंगवैक्लव्य है तहाँ तो शृंगार होगा। परंतु जहाँ रति अंग है और चित्तवैक्लव्य प्रधान है तहां तो करुणही कहना होगा। इसका यह समाधान है कि रति और शोक दोनों जहाँ प्राप्त होंय तहाँ रतिही प्रधान होय शोक प्रधान नहीं होय। इसमें वस्तुस्वभाव जो है सो ही प्रमाण है ऐसा हुआ तो दोनोंके सद्भावमें रतिकी प्रधानता होनेसे विप्रलम्भ शृंगारही होगा करुण नहीं ही होगा। और जो विप्रलम्भशृंगारमें करुणव्यवहार होताहै सो पूर्वोक्त युक्तिसेही होताहै सो जानना चाहिये। (यदि पूर्वोक्त रीतिसे गुणप्रधान नियम नहीं मानो तो चित्तवैक्लव्यसे पुष्ट जो रति उसको तो विप्रलम्भ समझो और रति करिके पुष्ट जो चित्तवैक्लव्य उसको करुण समझो यही व्यवस्था सुस्थ होजायगी) यह कहनेके अर्थ "नतु" इत्यादि ग्रन्थका आरम्भ करतेहैं। इसका यह अभिप्राय है कि पूर्वानुराग और मान और प्रवास और करुण चार प्रकारसे विप्रलम्भका वर्णन है इस हेतु जीते हुए जो स्त्री पुरुष उनको विप्रलम्भ शृंगारको करुणरसत्व आया। यहां पूर्वानुराग उसे कहतेहैं कि संगम तो भया होय नहीं और स्नेह उत्पन्न होगया इसीको अभिलाषहेतुकभी कहते हैं। और मान उसको कहतेहैं कि ईर्ष्यासे अथवा स्नेहसे जो कोप होय उसको ईर्ष्याहेतुकभी कहते हैं यह संगमोत्तर जानना। प्रवास उसको कहतेहैं कि प्रवासज्ञान होकरिके जो शृंगार होय यह प्रवासज्ञानहेतुक है इसीको प्रवासहेतुकभी कहते हैं। और करुणारूप शृंगार उसको कहतेहैं कि जिस तरह ईर्ष्या और प्रवास एतद्धेतुक और संगमपूर्वक जो विप्रलम्भ है इसके जो कारण होतेहैं अर्थात् ईर्ष्या प्रवास इससे अतिरिक्त जो हेतु गुर्वादिलज्जा उससे उत्पन्न जो संगमपूर्वक विप्रलम्भ सो विरहहेतुक कहाताहै। तिसही तरहसे उन दो प्रकारका जो विप्रलम्भशृंगार उसका कारण जो ईर्ष्या प्रवास उससे अतिरिक्त जो बलवत्तर कारण उससे उत्पन्न जो संगमपूर्वक विप्रलम्भ उसको करुणशृंगार कहतेहैं, ऐसा हुआ तो विप्रलम्भको भी करुणरसत्व आगया, यह जो शंका 'नतु' इत्यादि ग्रन्थसे की उसका "तत्र" इत्यादि

विरहज्वरमूर्च्छया पतन्तींनयनेनाश्रुजलेन सिच्यमानाम्॥
समवेक्ष्य रतिं विनिःश्वसन्तीं करुणा कुड्मलिता बभूव शम्भोः१

कुड्मलितेत्यपूर्णता ।

अवज्ञादिकृतः प्रमोदप्रतिकूलः परिमितो मनोविकारः क्रोधः ॥ प्रमोदप्रतिकूलेतिविशेषणाद्दशमुखदुर्वचनावमानितस्य रामस्य वीररसे नातिव्याप्तिः ॥

वाक्यसे पूर्वोक्तही समाधान करतेहैं । इसका यह अर्थ है कि विप्रलम्भ शृंगारमें करुणरसको अंगताकरिके माना है, इस हेतु वहां करुणपर व्यवहार है, वास्तविकमें वह शृंगारही है ॥ अब शोकका उदाहरण "विरह" इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं । श्लोकार्थ यह है कि वियोगसम्भूत सन्तापातिशयप्रयुक्त चित्तवैक्लव्यसे लोटती हुई और नयन अश्रुजलसे सींचीहुई ऐसी और निश्वास लेती हुई जो रति उसको देखकरिके महादेवजीकी करुणा सञ्जातकुड्मला होती हुई । यहां यद्यपि विध्वस्तकामसे उत्पन्न अश्रुपात और गात्रविक्षेपादिसे अनुभाव्य जो रतिमनोवैक्लव्य सो परिपुष्ट है तथापि विध्वस्तकामप्रियाविभावित जो शिवचित्तवैक्लव्य सो अपरिपूर्णही तात्पर्यताविषय है इस बातका समझना कुड्मलित पदसे ही है । यहही बात 'कुड्मलितेत्यपूर्णता' इस वाक्यसे कहीहै । उक्त युक्तिसे अपूर्णताही सब जगह है । और कोई जगहभी आक्षेपसे पूर्णाता है यह नहीं जानना । यही अपूर्णता इस पदका अभिप्राय है ॥

अब क्रोधरूप स्थायिभावका लक्षण कहतेहैं । "अवज्ञादि०" इत्यादिग्रन्थसे । इसका यह अर्थ है कि अवज्ञा आदिसे उत्पन्न और प्रमोदका प्रतिकूल ऐसा जो मनोविकार अर्थात् चित्तका प्रज्वलन अपरिपूर्ण उसको क्रोध कहतेहैं । यहाँ प्रमोदप्रतिकूल इस विशेषणका फल "प्रमोदप्रतिकूल" इत्यादि वाक्यसे कहतेहैं । वाक्यार्थ यह है कि रावणकृतदुर्वचनसे अपमानयुक्त रामके वीररस स्थायिभाव उत्साहमें भी अवज्ञादिकृतत्व है । तो अतिव्याप्ति होगी इस हेतु प्रमोदप्रतिकूल यह विशेषण दिया तो वीर रसका व्यभिचारिभाव जो क्रोध उसको विवेकरूप प्रमोद प्रतिकूल है तो भी क्रोधव्यभिचारिभावक वीररसस्थायिभाव जो उत्साह तामें प्रमोदप्रातिकूल्य नहीं है, इस हेतु वहां अतिव्याप्ति नहीं होगी यह बात युद्धवीरोत्साहोदाहरणावसरमें व्यक्त होगी । अब क्रोधरूप स्थायिभावका

यथा परशुरामवाक्यम्–

नाद्यारभ्य करोमि कार्मुकलताविन्यस्तहस्ताम्बुजः
किञ्चित्पाटलभासि लोचनयुगे तावन्निमेषोदयान्।
यावत्सायककोटिपाटितरिपुक्ष्मापालमौलिस्खलन्–
मल्लीमाल्यपतत्परागपटलैर्नामोदिनी मेदिनी ॥ १० ॥

किञ्चित्पाटलत्वादपूर्णता ॥ शौर्यदानदयान्यतमकृतः परिमितो मनोविकार उत्साहः ॥ वीरस्तु युद्धवीर-दानवीर-दयावीरभेदात् त्रिधा। युद्धवीरस्योत्साहो यथा–

सेनां संघटयन्द्युतिं द्विगुणयं श्चापं चमत्कारयन्
नेत्रस्याभिमुखो भविष्यति जगद्विद्रावणो रावणः।

उदाहरण "नाद्यारभ्य" इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं। श्लोकार्थ यह है कि परशुरामजी कहतेहैं कि आजके दिन अर्थात् सहस्रार्जुनापराधदिनको आरम्भ करिकै अर्थात् अवधि करिकै कार्मुकलता अर्थात् चापमें दिया है अम्बुजसदृश हस्तको जिसने ऐसा जो मैं सो किञ्चित्पाटलभासि अर्थात् श्वेतरक्तकान्तियुक्त लोचनयुगमें तबतक निमेषोदय अर्थात् पक्ष्माकुंचनारम्भको नहीं करूंगा। कबतक, इस अपेक्षासे कहतेहैं कि जबतक मेदिनी अर्थात् पृथिवी बाणाग्रविदारित शत्रुभूत पृथ्वीपतियोंके शिरसे बिखरी हुई जो मालतीमाला उससे च्युत जो पुष्परेणुसमूह उससे आमोदिनी अर्थात् गन्धवती नहीं होवे। यहांभी गुरुजनापराधादिविभावित विशिष्टप्रतिज्ञानुभावित क्रोध यद्यपि परिपूर्णही है तथाऽपि किञ्चित्पद क्रोधहीमें तात्पर्यका सूचक है। और प्रतिनायकादिको आक्षेप करिकै पूर्ण क्रोधमें भी तात्पर्यको सूचित नहीं करता है। यही बात किंचित् इस पदसे कहतेहैं ॥

अब उत्साह लक्षण "शौर्य" इत्यादि वाक्यसे कहतेहैं। वाक्यार्थ यह है कि शूरता और दान और दया एतदन्यतमकृत जो परिमित मनोविकार सो उत्साह है ॥ यहां एकमात्रका उपादान करैं तो दूसरे उत्साहमें अव्याप्ति होगी। एतदन्यतमसे कृत अर्थात् अनुभावित जो औद्धत्याख्य मनोविकार वह उत्साह है सो जानना। कार्यवैचित्र्यहीसे कारणवैचित्र्य जानाजाताहै यह बात "वीरस्तु" इत्यादि वाक्यसे कहतेहैं अर्थात् वीर युद्धवीर, दानवीर, दयावीर इनभेदोंसे तीन प्रकार हैं। अब युद्धवीरके उत्साहका उदाहरण "सेनाम्" इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं। श्लोकार्थ यह है कि सेनाको इकट्ठा करता

इत्युत्साहविचारमूढहृदयो देवो रघूणां पति-
र्ज्याविन्यासविधिं विनैव विशिखं बाणासने न्यस्तवान्॥११॥

अत्र विचारादपूर्णता ।

दानवीरस्योत्साहो यथा—

आदर्शाय शशांकमण्डलमिदं हर्म्याय हेमाचलं
दीपाय द्युमणिं महीमिव कथं नो भिक्षवे दत्तवान् ।
दित्सापल्लवितप्रमोदसलिलव्याकीर्णनेत्राम्बुजो
जानीमो भृगुनन्दनस्तदखिलं न प्रायशो दृष्टवान् ॥१२॥

हुआ कान्तिको द्विगुण वर्धन करता हुआ धनुषको चमत्कार करता हुआ अर्थात् ज्याको संयोजित करिके कानपर्यन्त खैंचता हुआ जगत्का विद्रावण अर्थात् दुःखदेनेवाला ऐसा रावण जो है सो हमारे नेत्रके सम्मुख होयहीगा । इस प्रकारका जो युद्धोत्साह उस करिके जो विचार अर्थात् मनोघटना उस करिके मूढहृदय अर्थात् व्यग्रहृदय अर्थात् वार्तानुसन्धानरहित जो रामचन्द्र उनने प्रत्यञ्चाकी रचनाविधि विनाही अर्थात् धनुषका ज्याके साथ संयोग विनाही बाणको धनुषमें संयोजित करदिया । यहां उत्साहका जो अनुभाव उसकी अनुपादानतासे उत्साहकी अपूर्णता जाननी । आक्षेपभी विचारपदसे नहीं बनसकताहै इस हेतु 'विचारपदादपूर्णता' यह ग्रन्थ संगत होगया ॥ अब दानवीरके उत्साहका उदाहरण "आदर्शाय" इत्यादिश्लोकसे कहतेहैं। श्लोकार्थ यह है कि कोई कहताहै कि भृगुनन्दन जो हैं सो काचके अर्थ अर्थात् मुखावलोकनार्थ जो दर्पण ताके अर्थ इस चन्द्रमण्डलको भिक्षुकको नहीं देताभया और घरके वास्ते हिमाचलको नहीं देताभया और दीपके वास्ते सूर्यको नहीं देताभया तो जिस तरह पृथिवी दी इस तरह ये सब क्यों नहीं दिये ? इससे जानतेहैं कि उन सबको प्रायः वह नहीं देखताभया । नहीं देखनेमें हेतुगर्भ विशेषण कहतेहैं कि कैसाहै भृगुनन्दन कि, देनका जो इच्छा उससे पल्लवित अर्थात् पल्लवावस्थासे परिणमित जो प्रमोद अर्थात् आनन्दाकार चित्तवृत्तिविशेष उससे जो जल उससे व्याकीर्ण अर्थात् व्याप्त अर्थात् देखनेमें अशक्त है कमलसदृश नेत्र जिसका ऐसा । यहां

१ शशांकमण्डलादिको ।

२ देनेकी जो इच्छा उससे सञ्जातपल्लव अर्थात् वर्धमान जो आनन्दसम्बन्धी अश्रु तत्संकीर्ण जो लोचन सो ही पयःपूरनिमग्नतासे अम्बुज अर्थात् कमल है जिसका (पक्षान्तर व्याख्या ।)

पल्लवितं न तु फलितमित्यस्याऽपूर्णता ॥ दयावीरस्योत्साहो यथा–

दुस्तारसंसारपयोधिपारप्रकारमालोचयतो जनानाम् ।
समुत्थितो वक्षसि कैटभारेः कृपांकुरः कौस्तुभकैतवेन ॥ १३ ॥

अंकुरोपन्यासादपूर्णता ।

'पल्लवितं न फलितम्' यह जो कहा इसका फलजनक प्रमोदका विषय सम्पत्तिरूप फलकरिकै फलसम्पत्ति नहीं हुई यह अर्थ जानना। ऐसा हुआ तो सकलवस्तुविषयक दानेच्छाकी जो विषयसम्पत्ति उस विषयसम्पत्तिका जो अभावप्रतिपादक पल्लवित पद है उसका जो यहां ग्रहण है सो अनुभावमें अनुभावकता वैगुण्यप्रतिपत्तिकारक होकरिकै अपरिपूर्णताहीमें पर्यवसन्न है सो जानना॥ अब दयावीरके उत्साहका उदाहरण "दुस्तार" इत्यादिश्लोकसे कहतेहैं। श्लोकार्थ यह है कि लोकको दुःखसे भी तरनेमें अशक्य जो संसाररूप समुद्र अर्थात् अहंताममतात्मकप्रपंचरूप समुद्र उसका जो पारप्रकार अर्थात् पारप्राप्तिका साधन सो क्या है इस प्रकार अन्वेषण करनेवाला जो कैटभारि अर्थात् भगवान् उसके वक्षस्थलमें कौस्तुभ अर्थात् महामणिके छलसे दयाका लेश उत्थित अर्थात् प्रादुर्भूत हुआहै जो यह मणि दयांकुररूप नहीं होता तो परदुःखापहारकत्व कामप्रपूरकत्व इत्यादि जो धर्मका स्मरण सो लोक किस प्रकार करते इससे यह दयांकुररूपहीहै। यहांभी संसारिजनालम्बक कौस्तुभात्मक कृपांकुराऽनुभावयुक्त परिपूर्ण उत्साह तात्पर्यका विषय नहीं है इस हेतु अंकुरपदप्रतिपाद्यहीहै। यही बात "अंकुरोपन्यासादपूर्णता" इस वाक्यसे कहतेहैं। यहां यह बात जाननी चाहिये कि "राज्यं मा लभ्यतां कृष्ण विपदः सन्तु भूयसः। किन्तु सत्यं परित्यक्तुं कम्पते मानसं मम॥" यहां कम्पते पद दिया और निवर्तते पद नहीं दिया इस हेतु अपरिपूर्ण सत्यवीरोत्साह पूर्वोक्त तीन उत्साहोंसे अतिरिक्तही प्रतीत होता है। यहां कदाचित् यह कहो कि दानवीरान्तर्गत धर्मवीरोत्साहही यह सत्यवीरोत्साह है यह कहना युक्त नहीं क्योंकि दयावीरोत्साहकाभी उक्तोत्साहहीमें अन्तर्भाव होजायगा। और सुनो कि "बृहस्पतिरसौ शुक्रो वाचां वा देवता स्वयम्। सभायामुपविष्टा चेत् किं चिद्वक्तुमुपक्रमे॥" यहां पाण्डित्यवीरोत्साहभी अपरिपूर्णरूप किंचित्पदसे जाना जाताहै। इसको भी कदाचित् युद्धवीरोत्साहमें अन्तर्भूत करलोगे तोभी "निन्दन्तु केचिदपरे प्रजल्पन्तु दुरुत्तरम्। अहं क्षमांकुरासक्तः प्रतिवक्तुं न शक्नुयाम्॥" यहां प्रतीयमान जो क्षमावीरोत्साह उसका कहां अन्तर्भाव करोगे? कदाचित् दयावीरोत्साहमें करो तो बलवीरोत्साहमें क्या समाधान करोगे? देखो "सुखं

अपराधविकृत-रवविकृत-सत्त्वादिजनितोऽपरिपूर्णो मनोविकारो भयम् । यथा-

ताक्ष्र्यपक्षपवनोपसेवितं
वीक्ष्यवीक्ष्य यदुनन्दनं पुरः ।
भीतभीत इव तत्र कालियो
मन्दमन्दमुपसर्तुमुद्यतः ॥ १४ ॥

शेषो गुहां यातु कमठः सेवतां जलम् । सर्वं जगत्पक्षकोणे गरुत्मान् धर्त्तुमिच्छति ॥" यहां धरति नहीं कहा इससे अपरिपूर्ण बलवीरोत्साहकी प्रतीति होतीहै इस हेतु शृंगारकी तरह नानारूप जो वीर हैं इनका उत्साहभी नानाहीहै परन्तु प्रकृत ग्रन्थ मार्गप्रदर्शक है इस हेतु यहां न्यूनतादोष नहीं जानना ॥

अब भयरूप स्थायिभावका लक्षण "अपराध" इत्यादिवाक्यसे कहतेहैं। वाक्यार्थ यह है कि अपराधसे और विकृत रवसे और विकृत प्राणीसे उत्पन्न जो अपरिपूर्ण मनोविकार सो भय है। यहां यह शंका होतीहै कि विकृतरवसे उत्पन्न जो हास वहभी भय कहावैगा । इसका यह समाधान है कि मनोविकारमें परम अनर्थविषयकत्व-विशेषण देना ऐसा हुआ तो हासरूप मनोविकार परम अनर्थविषयक नहींहै, इस हेतु वहां अतिव्याप्ति नहीं होगी । ऐसा हुआ तो भयका लक्षण ऐसा जानना कि अपराधादिकृत जो वैकल्याख्य मनोविकार सो भय है । कोई इस ग्रन्थकी यह व्याख्या करतेहैं कि अपराधसे उत्पन्न जो विकृतरव अथवा विकृतसत्त्व तज्जन्य जो मनोविकार सो भय है यही अपराधसे उत्पन्न यह पद नहीं दे तो विकृतरव विकृतसत्त्वसे हासरूप मनोविकृति होती है वहभी भय कहावैगा । इस हेतु अपराधसे उत्पन्न यह विशेषण दिया । ऐसा कहा तो जिस विकृत रव और विकृतसत्त्वसे हासरूप मनोविकृति होती है सो विकृत रव विकृतसत्त्व अपराधकृत नहीं है और भयजनक जो विकृतरव, विकृतसत्त्व वह अपराधसे उत्पन्न होताहै । इससे वहां अव्याप्ति नहीं होगी यह मत समीचीन नहीं, क्योंकि जहां व्याघ्रदर्शनसे भयोत्पत्ति हुई वहां अव्याप्ति होगी क्योंकि व्याघ्र यद्यपि विकृतसत्त्व है परंतु अपराधसे उत्पन्न नहीं है ऐसा हुआ तो अपराधसे उत्पन्न जो विकृतरव विकृतसत्त्व तज्जन्यमनोविकृतिरूप जो भय तादृशभयरूप व्याघ्रदर्शन जन्य भय नहीं हुआ । इस हेतु यहां अव्याप्ति होगी इस हेतु पूर्व मतही समीचीन जानना ।

अब भयरूप स्थायिभावका उदाहरण "ताक्ष्र्य" इत्यादिश्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ

इवोपन्यासादपूर्णता ॥ अप्रियदर्शनस्पर्शनस्मरणजनिता मनोविकृतिरपारिपूर्णा जुगुप्सा । यथा--

शार्दूलशावकचटच्चटपाट्यमान--
सारङ्गशृङ्गवति भूभृति रामचन्द्रः ।
वासं चकार न बभार तथा जुगुप्सां
दुःखेषु दुःखमतिरेव न दुःखितानाम् ॥ १९ ॥

यह है कि भीतसेभी भीतकी तरह कालियनामक सर्प कृष्णके समीपमें अतिमन्थर जैसे होय तैसे अनुसरण करनेके अर्थ उद्योगयुक्त है। क्या करके सो कहतेहैं । गरुडके पक्षसे उत्पन्न जो पवन उससे उपसेवित ऐसे श्रीयदुनन्दनको देख देख करके अर्थात् परीक्षा करके । यहां गरुडपक्षोत्पन्नपवनसेवित कृष्ण हैं यह कहनेसे कालियनागको यह विचार हुआ कि श्रीकृष्णके अधीन है यह गरुड इसलिये हमको दूरकरनेमें इनकी प्रवृत्ति नहींभी होगी तोभी हमारे अपराधजन्यरोषयुक्त श्रीकृष्णको हमारा अपाय करनेवाला जो उपाय है उसके अन्वेषण करनेमें विलम्बभी नहीं होगा, इस हेतु उस बुद्धिका आवेदन करता भय पुष्ट होताहै । यहां श्रीकृष्णापराधविभावित मन्दोपसरणाद्यनुभावित जो कालियगत भय वह भयमात्र तात्पर्य–विषय है इस अर्थमें इव पदही प्रमाण है । यही बात "इवोपन्यासादपूर्णता" इस ग्रन्थसे कहतेहैं । इसका यह अभिप्राय है कि पूर्णचर्वणासे विरुद्ध जो संशययुक्तत्व सो इवशब्दसे जाना जाता है । इसलिये अपूर्णही भयमें तात्पर्य जानाजाताहै ।

अब जुगुप्सारूप स्थायिभावका लक्षण कहतेहैं "अप्रिय" इत्यादिवाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि अप्रियवस्तुका दर्शन और स्पर्श करना और स्मरण इनसे उत्पन्न जो अपरिपूर्ण मनोविकार वह जुगुप्साहै।इसका उदाहरण "शार्दूल" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि सिंहके पुत्रसे चटत् चटत् इस प्रकारसे शब्दायमान जैसे होय तैसे विदार्यमाण जो मृग सो है जिसमें ऐसा जो शृंग अर्थात् शिखर उससे युक्त जो पर्वत उसमें रामचन्द्र वास करता भया। तथा कहिये अधिक जैसे होय तैसे जुगुप्साको धारण नहीं करता भया यह इसही अर्थको अर्थान्तरोपन्याससे दृढकरतेहैं कि दुःखित पुरुषको दुःख अर्थात् दुःखसाधनवस्तुओंमें दुःखमति अर्थात् दुःखसाधनत्वबुद्धि नहीं ही होती है । यहां पाट्यमान सारंगसे विभावित जो जुगुप्सा वह अपरिपूर्णही तात्पर्यका विषय है। यह बात 'न तथा' इस पदसे जानीजाती है ।

न तथेतिपदादपूर्णता ॥ चमत्कारदर्शनस्पर्शनश्रवणजनितो-ऽपरिपूर्णो मनोविकारो विस्मयः । यथा-

युध्यन्तमर्जुनं वीक्ष्य के वा देवा न विस्मिताः ॥
न मेने बहु गोविन्दो दृष्टकर्णपराक्रमः ॥ १६ ॥

न मेने इतिपदादपूर्णता ।

शृङ्गारादौ चमत्कारदर्शनाद्यत्र मनोविकृतिरङ्गतया भासते तत्र शृङ्गारादय एव रसाः ॥ प्राधान्येन यत्र भासते तत्राद्भुत एव रसः ॥ अङ्गतया यथा-

---

इसहीको "न तथेतिपदादपूर्णता" इस पदसे कहतेहैं। जब न तथा इस पदसे जुगुप्साको अपूर्णताही जमाईगई तो अविशिष्टव्यञ्जकका आक्षेप नहीं होताहै सो जानना। अब विस्मयरूप स्थायिभावका लक्षण "चमत्कार" इत्यादिवाक्यसे कहतेहैं। वाक्यार्थ यह है कि चमत्कारका दर्शन स्पर्शन स्मरण इससे उत्पन्न जो अपरिपूर्ण मनोविकार आश्चर्याख्य वह विस्मय है। यहां चमत्कार पद नहीं दें तो जुगुप्सामें अतिव्याप्ति होगी, इस हेतु चमत्कार यह पद दिया। इसका उदाहरण "युध्यन्तम्" इत्यादिश्लोकसे कहतेहैं। श्लोकार्थ यह है कि दुर्योधन कहताहै कि कृतवर्माके प्रति युद्ध करतेहुए अर्जुनको देखकरिके कौन देवता नहीं विस्मयको प्राप्त हुएहैं? अपितु सम्पूर्ण देवता विस्मयको प्राप्त होगये परन्तु गोविन्द जो है सो बहुत नहीं मानता भया अर्थात् जैसे सम्पूर्ण देवता विस्मयको प्राप्त हुये तैसे गोविन्द कि नहीं हुआ किन्तु ईषद्विस्मयको प्राप्तभया। इसमें हेतु यह है कि कैसा है गोविन्द-देखा है कर्णका पराक्रम जिसने ऐसा अर्थात् कर्णका पराक्रम इससे भी अधिक है सो जानताहुआ बहुत नहीं मानता भया। यहां उक्तप्रकार अद्भुत शौर्य दर्शनविभावित केवल विस्मयही तात्पर्यका विषय है। यह बात 'न मेने' इसका विषयहै यह "न मेने इति पदादपूर्णता" इससे कहतेहैं यहां यदि पूर्ण विस्मय कविका तात्पर्यविषय होवै तो पूर्णविस्मयचर्वणाका बाधकीभूत जो 'न बहु मेने' इस पदव्यङ्ग्य निषेध सो निबद्ध नहीं होता उसका निबन्धन करनेसे यह जानागया कि पूर्ण विस्मयतात्पर्यविषय नहीं है ऐसा हुआ तो यहां व्यञ्जकान्तरका आक्षेप नहीं होगा सो जानना॥

अब यहां विस्मयरूप मनोविकारका कहीं अंगतासे कहीं प्रधानतासे उदाहरण होसकताहै उसका प्रतिपादन "शृंगारादौ" इस वाक्यसे कहतेहैं। वाक्यार्थ यह है कि जहां शृंगार वा हास्य इत्यादिमें नायकादिका चमत्कार दर्शन करिकै

वैधर्म्यं श्रुतिपङ्कजात्प्रकटयत्यानन्दनीरं दृशोः
स्वर्णालंकरणाद्व्यनक्ति पुलको वैधर्म्यभङ्गश्रियः ।
तस्या नूपुरपद्मरागमहसः पादारविन्दश्रियो
भेदं सिञ्जितमेव वक्ति किमतः शिल्पं विधेर्वर्ण्यताम्॥ १७॥

प्राधान्येन यथा–

विना सायं कोऽयं समुदयति सौरभ्यसुभगः
किरञ्ज्योत्स्नाधारामधिधरणि तारापरिवृढः ।

आश्चर्याख्य मनोविकाररूप विस्मय अंग होकरिकै भासमान होय वहां शृंगा-रहास्यादिही रस होतेहैं और जहाँ वह विस्मय प्रधान हो करिकै भासमान होय तहाँ अद्भुतही रस है तहां अंगभूत विस्मय जहाँ भासमान होताहै सो उदाहरण "वैधर्म्यम्" इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं । श्लोकार्थ यह है कि वह जो वर्णनीय नायिका उसका चक्षुओंके श्रोत्रभूषणीकृत कमलसे वैचित्र्यको आनन्दानुभाव जो अश्रु सो प्रकट अर्थात् अनुमिति गोचरताको प्राप्त करताहै । और उसकी अंगश्री अर्थात् तप्तकाञ्चनसदृश शरीरद्युतिको काञ्चनमय भूषणसे जो वैचित्र्य उसको पुलक अर्थात् रोमाञ्च व्यञ्जित करताहै । अर्थात् अनुमान कराताहै। और उस स्त्रीकी जो पादारविन्दश्री अर्थात् चरणकमलरक्तताकी शोभा उसको चरणभूषण खचित पद्मरागकान्तिसे जो भेद अर्थात् उत्कर्ष उसको सिञ्जित अर्थात् रणितही सूचित करताहै । यहीं 'वच' धातु अपने अर्थमें अत्यन्त अनुपयुक्त होकरिकै प्रकाशकरण-रूप अर्थमें अर्थान्तरसंक्रमित है सो जानना । अतःकहिये भेदकधर्म प्राकट्यसे पर कहिये और जो विधाताका शिल्प अर्थाच्चातुर्य है उसको वर्णन क्यों कियाजाय यहां भूषणपरिधानादिरूप शृंगारमें विस्मय अंगतासे भासित है सो जानना । एक यहभी जानना कि शृंगारादि दृश्यमान होके विस्मयके प्रयोजक होतेहैं । स्वरूपसत् विस्मयके प्रयोजक नहीं हैं । इस हेतु दृश्यमान शृंगारमें ही अंगभूत होकरिकै विस्मयका भान होताहै सो जानना ।

अब विस्मय जहाँ प्रधान होकरिकै भासमान होताहै वह उदाहरण "विना सायम्" इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं नायकका सखीके प्रति यह वाक्य है । श्लोकार्थ यह है कि सायंकाल विना सौरभ्यसुभग ऐसा तारापरिवृढ कहिये

धनुर्धत्ते स्मारं तिरयति विहारं न तमसां
निरातंकः पंकेरुहयुगलमंके नटयति ॥ १८ ॥

इति श्रीभानुदत्तविरचितायां रसतरंगिण्यां स्थायिभावनिरूपणं नाम प्रथमस्तरंगः ॥ १ ॥

ताराधिप अर्थात् चन्द्रमा अदृष्टपूर्व कौन उदित होताहै । प्रसिद्धचन्द्र तो सायं अर्थात् अभिनवतासे लोचनगोचरताको प्राप्त होताहै । कालमें उदितभी है तो भी सौरभ्यसुभग कहिये सौगन्ध्यसुन्दर नहीं है । क्या करता हुआ उदित होताहै कि पृथिवीमें ज्योत्स्नाधारा अर्थात् कान्तिधाराको बिखेरता हुआ प्रसिद्ध चन्द्रतो नीची और ऊँची कान्तिधाराको प्रकाशित करताहै । यह चन्द्र तो पृथिवीमें और चारों तरफ कान्तिधाराको प्रसारित करताहै । और यह जो चन्द्र है सो कामदेवसम्बन्धी धनुषको धारण करताहै । और प्रसिद्ध चन्द्र तो धनुष धारणही नहीं करताहै । और यह चन्द्र अन्धकारका जो विलास उसको दूर नहीं करताहै और प्रसिद्धचन्द्र तो करताहीहै । और यह चन्द्र निरातंक अर्थात् निर्भय होके अंक अर्थात् गोदमें पंकेरुहयुगल अर्थात् कमलद्वन्द्वको नृत्य कराताहै। प्रसिद्धचन्द्र तो नहीं ही कराताहै किन्तु कलंकको धारण कराताहै। यहाँ साध्यवसान लक्षणसे ताराशब्दका जालीकृतमौक्तिकमाला अर्थ समझना,ज्योत्स्नाधारासे कान्ति धारा समझना,स्मारधनुषसे भृकुटी समझना, तमसे कुन्तल समझना, पंकेरुहयुगलसे नेत्र समझना इस रीतिसे प्रसिद्ध चन्द्रवैलक्षण्यसे चन्द्राभिन्नतासे रमणीमुखवर्णनमें अत्याश्चर्य है। इस हेतु विस्मयही प्रधानतासे सहृदयजनको अनुभवारूढतासे प्रतीति विषय है सो जानना । यहां चन्द्रमासे आधिक्यवर्णनसे व्यतिरेकालंकारके साथ रूपकातिशयोक्तिकी संसृष्टि कही गई ॥

इति श्रीरसतरंगिणीभाषाटीकायां स्थायिभावनिरूपणंनाम प्रथमस्तरंगः ॥ १ ॥

द्वितीयस्तरङ्गः २.

अथ विभावा निरूप्यन्ते। विशेषेण भावयन्त्युत्पादयन्ति ये रसांस्ते विभावाः। ते च द्विविधाः। आलम्बनविभावा उद्दीपनविभावाश्चेति। यमालम्ब्य रस उत्पद्यते स आलम्बनविभावः।

उत्तर अभिधानमें नियामक जो निर्वाहकतारूप संगति उसको सूचन करते हुए शिष्यसावधानतार्थ विभावनिरूपणप्रतिज्ञा "अथ" इत्यादि वाक्यसे कहते हैं। वाक्यार्थ यह है कि स्थायिभावनिरूपणानन्तर विभावनिरूपण करते हैं। अब विभावपदका वाच्यार्थ बोधन करनेके अर्थ विभावका लक्षण करते हैं "विशेषेण" इत्यादि वाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि विशेष करिके जो भावित अर्थात् उत्पादित करे रसको सो विभाव कहेजातेहैं। विशेषकरिके रसोत्पत्तिजनक जो होय उसको विभाव कहना यह फलित हुआ ऐसा हुआ तो विशेषता प्रकृष्टरसजनकज्ञानविषयता अन्यतर-सम्बन्धावच्छिन्ना जो रसनिष्ठा कार्यता तादृशकार्यतानिरूपिता जो तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना कारणता तादृशकारणतावत्त्वही विभावसामान्य लक्षण जानना। इस लक्षणके माननेवाले विभावका विभाग करते हैं "ते च" इत्यादिवाक्यसे। वाक्यार्थ यहहै कि उक्त विभाव दो प्रकारकेहैं। अब आलम्बनविभाव शब्दका वाच्यार्थ कहते हुए उसका लक्षण करते हैं। "यमालम्ब्य" इत्यादिवाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि जिसका आलम्बन करिकेही रस उत्पन्न होय वह आलम्बनविभाव कहा जाता है। यहां ही पद नहीं तो जिसको आलम्बन करिके रस उत्पन्न होय ऐसा कहते तो जिस समयमें नायिकाको आलम्बन करिके शृंगार उत्पन्न होताहै उस समयमें नियम करिके उद्दीपनविभावविषयक रति नियमसे नहींभी होती है। तो भी कदाचित् नायिकालम्बनकरातिसमयमें चन्द्रचन्दनाद्यालम्बनकभी रति होती है तो रसका आलम्बन चन्द्रचन्दनादिभी कहावेगा, तो उद्दीपनविभावमें अतिव्याप्ति होगी इस हेतु हीपद दिया। अब उद्दीपनविभावमें अतिव्याप्ति नहीं हुई क्योंकि उद्दीपन विभावका आलम्बन करिके ही रसकी उत्पत्ति नहीं होती है। रसोत्पत्तिकालमें चन्द्रमा चन्दनको रति नियमसे विषय नहीं करती है। नायकनायिकाको तो रति नियमसे विषय करती है। इस हेतु नायकनायिका आलम्बन: करिके ही रसकी उत्पत्ति हुई। और चन्द्रचन्दनादिका आलम्बन करिके ही नहीं हुई। इससे चन्द्रचन्दनादिमें अतिव्याप्ति नहीं हुई। नायकनायिकादिमें लक्षणसमन्वय

यो रसमुद्दीपयति स उद्दीपनविभावः। आलम्बनविभावो यथा--

होगया सो जानना ॥ अब यहां यह शंका होती है कि नायिकाके अलंकरणादिवस्तुमें कोई वस्तुको नियम करिकै रतिका विषयत्व है । तो वहभी आलम्बन विभाव होगा। इसका समाधान यह है कि इसही हेतु आलंबन बिभावके लक्षणमें रस उत्पद्यते यह पद दिया है इसका यह अभिप्राय है कि जिसको विषय करनेहीसे चित्तवृत्ति विशेषरूप रत्यादि स्थायिभाव रसपदप्रवृत्तिनिमित्त-रसत्त्ववान् होंय वह आलंबन विभाव कहा जाताहै। ऐसा हुआ तो विचार करिकै देखो नायिकाविषयिणी रति जो है सो अलंकरणादि विषयकभी होगी तोभी वह रतिरूप स्थायिभाव रसपद प्रवृत्ति निमित्त रसविशिष्ट जो कहावैगा सो भूषण-विषयकत्वसे नहीं कहावैगा, किंतु नायिकाविषयकत्वसे ही कहावैगा। इस हेतु नायि-काही आलम्बनविभाव है भूषण आलंबन विभाव नहींहैं इससे भूषणादिमें अतिव्याप्ति नहीं हुई सो जानना । अब उद्दीपन विभावका लक्षण "यो रसमुद्दीपयति" इत्यादि वाक्यसे कहतेहैं । वाक्यार्थ यह है कि जो रसको उद्दीपित करे अर्थात् प्रकाशित करे वह उद्दीपनविभाव कहावै। अभिप्राय यह है कि रसजनक ज्ञानविषय जो है सो उद्दीपनविभाव है। चन्द्रचन्दनादिका ज्ञान रसका जनक है। इसहेतु रसजनक ज्ञानविषय चन्द्रचन्दनादि है इस हेतु वहां लक्षणसमन्वय होगया। यद्यपि चन्द्रचन्दनादिवत् नायिकाभी रसजनकज्ञानविषयहै, क्योंकि नायिकाके ज्ञानसे रसोत्पत्ति होतीहै तो नायिकादि भी उद्दीपनविभाव कहावैंगे, तथापि इस प्रकार निवेश करना कि जिसका ज्ञान प्रकृष्टरसजनक होय सो उद्दीपनविभाव है। ऐसा हुआ तो नायिका ज्ञान प्रकृष्ट रसजनक नहीं है चन्द्रचन्दनादि ज्ञान प्रकृष्टरसजनक है इस हेतु प्रकृष्टरसजनकज्ञान विषय जो चन्द्रचन्दनादि सोही उद्दीपनविभाव है नायिकादि नहीं है। ऐसा हुआ तो प्रकृष्टरसजनक ज्ञानविषयत्वही उद्दीपनविभावका लक्षण जानना । आलंबनविभावका और रसका कार्यकारणभाव इस रीतिसें जानना कि जहां विशेष्यतासंबंधसे रस होय तहां तादात्म्यसंबन्धसे आलंबन विभाव रहे। इसही प्रकार रस और उद्दीपनविभावकाभी कार्यकारणभावप्रकार यह है कि जहां प्रकृष्ट रसजनकज्ञानविषयत्वसंबन्धसे प्रकृष्ट रस रहै । तहाँ तादात्म्य-संबंधसे उद्दीपन विभाव रहै। ऐसा हुआ। तो दोनों विभावको कारणता होनेमें तादात्म्यसंबन्धही हुआ रसको कार्यता होनेमें दो संबंध हुए, एक तो विशेष्यता संबंध दूसरा प्रकृष्टरसजनकज्ञान विषयत्वसंबंध। ऐसा हुआ तो रसनिष्ठा कार्यता कहीं तो विशेष्यत्व संबंधावच्छिन्ना होगी । कहीं प्रकृष्टरसजनकज्ञानविषयत्व

प्राणस्य प्रतिमूर्तिः प्रत्यात्मा पुण्यलतिकायाः।
अधिदैवतं नयनयोः सा मम या काऽपि सा सैव ॥ १ ॥
शृङ्गारस्योद्दीपनविभावाः । तत्र भरतः—
ऋतुमाल्यालंकारैः प्रियजनगान्धर्वकाव्यसेवाभिः।
उपवनगमनविहारैः शृङ्गाररसः समुद्भवति ॥ २ ॥
चन्द्रचन्दनादय ऊहनीयाः ॥ उद्दीपनविभावस्योदाहरणम् । यथा—
सन्ध्याशोणाम्बरजवनिका कामिनोः प्रेम नाट्यं
नान्दी भ्राम्यद्भ्रमरविरुतं मारिषः कोऽपि कालः।

संबन्धावच्छिन्ना होगी परन्तु इस कार्यतानिरूपित जो कारणता सो तादात्म्य संबंधावच्छिन्ना ही है इस हेतु पूर्वोक्त विभावलक्षण समीचीन होगया सो जानना। यही मार्ग संपूर्ण रसमें जान लेना । अब शृंगार रसके आलंबन विभावका उदाहरण "प्राणस्य" इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं । श्लोकार्थ यह है कि कोई नायिकाको प्रेमकी दृढताका निवेदन करनेवाली सखीके प्रति नायककी उक्ति है कि प्राणके सदृश पुण्यलतारूपही नयनैंका अधिदैवत अर्थात् जिस विना नयनको अन्धताही है ऐसी जो कोई प्राणकी सदृशतासे पुण्यलताको स्वरूपतासे अथवा नयनके अधिदैवतत्वसे व्यवहारयोग्य हमारे वह है वो ही । अर्थात् हमारी तत्तद्रूपही सो अर्थात् उद्दिष्टनायिका है अर्थात् जिसका तू वर्णन करतीहै वह है। यहां नायिकाविषयक रति नायकनिष्ठहै । इस हेतु नायकनिष्ठ रतिमें नायिका आलम्बनविभाव भई । अब शृंगारके उद्दीपनविभाव प्रमाणपुरःसर कहतेहैं "तत्र" इत्यादि वाक्यसे। वाक्यार्थ यहहै कि शृंगारके उद्दीपनविभावविषयमें भरतसम्मतिभीहै सो उद्दीपनविभाव एक तो ऋतु और माला और आभूषण इनकरिकें और प्रियजन अर्थात् आलम्बनसम्बन्धी सख्यादि और गान्धर्व अर्थात् गान और काव्य इनको सेवन करिके और उपवनमें गमन और विहार करिके शृंगार रस उत्पन्न होताहै अर्थात् प्रकर्षको प्राप्त होताहै इस हेतु ऋतुमाल्यादिहीहै । चन्द्रमा और चन्दन इत्यादिका ऊह कर लेना अर्थात् यह भी उद्दीपन विभाव है सो जान लेना। अब उद्दीपनविभावका उदाहरण "सन्ध्या" इत्यादिश्लोकसे कहतेहैं। श्लोकार्थ यहहै कि सुधादीधिति अर्थात् चन्द्रमा जो है सो ही जो सूत्रधार सो पुष्पकेतु अर्थात् मदनके नृत्यारम्भको जनाता हुआ प्रवेश करताहै अर्थात् रंगभूमिका विषय होताहै।

ताराप्पुष्पाञ्जलिमिव किरन्सूचयन्पुष्पकेतो-
नृत्यारम्भं प्रविशति सुधादीधितिः सूत्रधारः ॥ ३ ॥

अथ हास्यरसस्य विभावाः । तत्र भरतः-

विपरीतालंकारैर्विकृताचाराऽभिधानवेशैश्च ।
विकृतैरर्थविशेषैर्हसतीति रसः स्मृतो हास्यः ॥ ४ ॥

अंगवैकृतादय ऊहनीयाः । यथा-

केयूरं घर्घरयन्भ्रमयन्मौलिं विवर्तयन्बाहुम् ।
नेत्राञ्चलं चपलयन्नटयति मायाशिशुच्छायाम् ॥ ५ ॥

कया करता हुआ, तारा अर्थात् नक्षत्रही जो पुष्प उनकी जो अञ्जलि उसको मानो विखेरता हुआ । रंगभूमिकी सामग्री दिखाते हैं कि सन्ध्याकालका जो ताम्रमेघ सोही जवनिका अर्थात् पडदा है अथवा सन्ध्या जो कालहै सो ही रक्तवस्त्रकी जवनिका है ऐसी व्याख्यामें "मारिषः कोपि कालः" इसका यह अर्थ करना कि वसन्तादि जो काल सो ही मारिष अर्थात् विदूषक है और कामी और कामिनीका जो परस्परालम्बन प्रेम वह नाट्य है भ्रमण करतेहुए जो भ्रमर उनका जो शब्द अर्थात् सन्ध्याकालमें संकुचित जो कमल उससे निर्गत जो मधुकर उनका जो रणित सोही नान्दी है और कोई जो चन्द्रोदयोपलक्षित काल है अर्थात् समय है वह मारिष अर्थात् सूत्रधारका सधर्मा पुरुष है । यहां चन्द्रादि सम्पूर्ण पदार्थ शृंगारका उद्दीपनविभाव जानना ॥

अब हास्यरसका विभाव कहतेहैं "तत्र भरतः" इत्यादिसे । इसका अर्थ यह है कि हास्यके विभाव भरतजीने भी कहेहैं "विपरीता" इत्यादि वाक्यसे वाक्यार्थ यह है कि विपरीत आभूषणोंसे और विकृताचारसे और विकृताभिधानसे और विकृतवेषसे और विकृत अर्थ विशेषोंसे लोक हंसताहै इसलिये यह रस हास्य कहाताहै बाहुआदिके भूषणको पादआदिमें पहिरनेसे विपरीतालंकार कहाते हैं और ग्रीष्मसमयमें वह्नि सेवनकरना इसको विकृताचार कहते हैं । किन्नर कहनेके स्थानमें किनल कहना विकृताभिधान है, वस्त्रादिपरिधानकृत जो संनिवेश वह विकृतवेष है, कुब्जवामनादिही अर्थविशेष है । और खञ्जत्व काणत्वादि जो अंगवैकृत उसकाभी ऊह करदेना। अब हास्यरसके विभावका उदाहरण "केयूरम्" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि नट जो है सो मायाकरिके शिशुसदृश जो बालमुकुन्दमूर्ति उसको नृत्य-

अथ करुणरसस्य विभावाः । तत्र भरतः—

इष्टजनस्य विनाशाच्छापात्क्लेशाच्च बन्धनाद्व्यसनात् ।
एतैरर्थविशेषैः करुणाख्यरसः समुद्भवति ॥ ६ ॥

बन्धुदारिद्र्यादय ऊहनीयाः । यथा—

त्वां पश्यतो भुजगपाशनिबद्धदेह--
मद्याऽपि मे यदसवो न बहिः प्रयान्ति ।
नेत्रे निमीलयसि पश्यसि नैव ताव--
दास्यं मदीयमिति लक्ष्मण युक्तमेव ॥ ७ ॥

अथ रौद्ररसस्य विभावाः । तत्र भरतः--

विशिष्ट कराताहै । क्या करता हुआ, केयूर जो वाहुभूषण सो यद्यपि शब्दयुक्त नहीं है तो भी उसको क्वणनव्यापार कराता हुआ यह कहनेसे विपरीत आचार दिखाया । अथवा वर्बर कहिये पादभूषण केयूरको पादभूषण करता हुआ इससे विपरीतालंकार कहा और मस्तकको भ्रमाता हुआ और वाहुको इतस्ततः फेंकता हुआ और नेत्रप्रान्तको चञ्चलतायुक्त करता हुआ अर्थात् दूर करता हुआ । यहां हास्यरसका आलम्बनविभाव तो कृष्ण हैं और विपरीतालंकारादि उद्दीपनविभाव हैं सो जानना ॥

अब करुणरसका विभाव कहतेहैं, तहाँ भरतसम्मति दिखातेहैं "इष्टजनस्य" इत्यादि वाक्यसे।वाक्यार्थ यह है कि इन अर्थविशेषोंसे करुणाख्य रस उत्पन्न होताहै । इस प्रकार सामान्यरूपसे वाक्यार्थ बोधकरिकै विशेष जिज्ञासा हुई कि कौन अर्थ विशेष, पश्चात् यह कहना कि इष्टजनके विनाशसे और इष्टजनके शापसे इष्टजनके ज्वरादि क्लेशसे इष्टजनके वन्धनसे इष्टजनके विपत्तिरूप व्यसनसे करुण रस होताहै । वन्धुजनके दारिद्र्यकाभी ऊह करना इसका उदाहरण "त्वां पश्यतः" इत्यादिश्लोकमें कहतेहैं । श्लोकार्थ यह है कि राम कहतेहैं कि हे लक्ष्मण ! नागपाशसे बांधाहै देह जिसका ऐसा जो तू उसको देखता हुआ जो मैं हूँ उसके अवभी प्राण वाहर नहीं जातेहैं इस हेतु तू नेत्रोंको मीचताहै, मेरे मुखको नहीं देखताहै सो युक्तही है। यहां करुणाका आलम्बन तो लक्ष्मण है और उसका वन्धन उद्दीपन है । अब रौद्ररसके

आयुधखड्गाभिभवाद्वैकृतभेदाद्विदारणाच्चैव
संग्रामसंभवार्थादेभ्यः सञ्जायते रौद्रः ॥ ८ ॥
वैरिदर्शननिर्भर्त्सनादथ ऊहनीयाः । यथा--
तन्वन्ती तिमिरद्युतिं कृतवती प्रत्यर्थिचक्रव्यथा-
मेषा भार्गव तावकी विजयते निस्त्रिंशधारा निशा ।
युद्धक्रुद्धविपक्षपक्षविदलत्कुम्भीन्द्रकुम्भस्थल-
भ्रश्यन्मौक्तिककैतवेन परितस्तारावलीं वर्षति ॥ ९ ॥
अथ वीररसस्य विभावाः । तत्र भरतः--
उत्साहाध्यवसायादविषादित्वादविस्मयान्मोहात् ।
त्रिविधादर्थविशेषाद्वीररसो नाम संभवति ॥ १० ॥

विभाव कहतेहैं तहां भरतसम्मति दिखातेहैं "आयुध" इत्यादि वाक्यसे।वाक्यार्थ यह है कि आयुधरूप जो खड्ग उसके पराभवसे और वैकृतभेद कहिये अनादरचेष्टासे और विदारण कहिये निकृन्तनसे और संग्रामसे और सम्भव अर्थ कहिये आक्रमणादिसे रौद्ररस उत्पन्न होताहै । यहां वाक्यार्थमें सामान्यविशेषभाव पूर्ववत् जानलेना। अब यहां यह शंका होतीहै कि खड्गपद क्यों दिया? इसका समाधान यह है कि आयुधके उत्कर्षापकर्षकृत अभिभवसे रौद्ररस नहीं होताहै इसलिये खड्गपद दिया फिर शंका हुई कि आयुधपद क्यों दिया?इसका समाधान यह है कि प्रमाद-पतित खड्गाभिभवसे रौद्ररस नहीं होताहै इस हेतु आयुधपद दिया। यहां अभिभव-शब्द पराभवमात्रार्थक है, इस हेतु विदारणसे पौनरुक्त्य नहीं हुआ सो जानना। और बन्धुका वध और डरपाना इत्यादिका भी ऊह करदेना अब रौद्ररसके विभा-वका उदाहरण "तन्वन्ती" इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं। श्लोकार्थ यह है कि हे भार्गव ! अर्थात् परशुराम यह जो आपकी खड्गधारारूप रात्रि सो सर्वोत्कर्षसे वर्तती है, खड्गधाराको रात्रिसाम्यके बोधकसाधारण धर्मोंका प्रतिपादन करनेके अर्थ खड्गधारारूप रात्रिको विशेषणयुक्त करतेहैं । कैसी है खड्गधारारूप रात्रि सो कहतेहैं कि अन्धकारकी कान्तिको विस्तारित करतीहुई फिर कैसीहै कि शत्रुजनोंका जो चक्र सोही हुआ चक्रवाक उनकी व्यथाको करतीहुई ऐसी, फिर कैसी है कि संग्राममें क्रुद्ध जो शत्रुपक्ष अर्थात् शत्रुसेना उसमें विदीर्ण जो श्रेष्ठ गजका कुम्भ-स्थल उससे पडते हुए जो मौक्तिक उनके छलसे चौतरफ तारावलीको वर्षण करतीहै। यहां रौद्ररसके आलम्बनविभाव तो शत्रु हैं और संग्रामादि उद्दीपन विभाव हैं॥

अब वीररसके विभाव कहतेहैं। तहां भरतसम्मति दिखातेहैं "उत्साह" इत्यादि

विजयबलादय ऊहनीयाः । यथा—

लंकाधिपः संयति शंकनीयो जम्भारिदम्भापहबाहुवीर्यैः ।
इत्यालपन्तं हनुमन्तमेष रामः स्मितैरुत्तरयाञ्चकार॥ ११॥

दानवीरस्य विभावो यथा—

वपुषा विनयं वहन्ति केचिद्वचसा केऽपि चरन्ति चारुचर्याम् ।
अतिथौ समुपागते सपर्य्यां पुलकैः पल्लवयन्ति केऽपि सन्तः १२

दयावीरस्य विभावो यथा—

कथमविरलजाग्रद्भक्तिभाजो निशायां
तमसि दुरवगाहे प्राणिनो वीक्षणीयाः ।

वाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि उत्साहयुक्त अध्यवसाय अर्थात् बुद्धिसे विषादके अभावसे विस्मयाभावसे और मोहकारण क्रोधसे और उत्साहकारणत्वसे लोकशास्त्रावगत विविधपदार्थोंसे वीररस उत्पन्न होताहै। और विजय बल इत्यादिका भी ऊह करदेना। इसका उदाहरण "लंकाधिपः" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि यह जो राम है सो इस प्रकारसे कहनेवाले हनुमान्को उत्साहसम्भव ईषत्हाससे उत्तर करता भया, किस प्रकारसे कहते हैं कि जम्भारि जो इन्द्र उसका जो अभिमान उसका अपहरण करनेवाला है बाहुवीर्य जिसका ऐसा जो लंकाधिप अर्थात् रावण सो संग्राममें शंकनीय है अर्थात् बलवान् अनर्थकी हेतुतासे सम्भावना योग्य है। इस प्रकार यहां वीररसका आलम्बन रावण है, और हनुमान्का कथन उद्दीपन है। अब दानवीरको विभावका उदाहरण "वपुषा" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं, श्लोकार्थ यह है कि अतिथि अर्थात् याचक समागत होतसन्ते कोई अर्थात् व्यवहारमात्र कुशल जो जन सो शरीरसे विनय जो है परोपसर्पण उसको प्राप्त होते हैं। और कोई अर्थात् शास्त्रनिष्णातबुद्धि जो पुरुष सो वचन अर्थात् स्तुतिसे चारुचर्या अर्थात् शिष्टाचारको सम्पादन करते हैं। और कोई जो सन्त अर्थात् महामहिमपुण्यशील सो तो पुलक अर्थात् रोमाञ्चसे सपर्या अर्थात् पूजाको आरम्भयुक्त करते हैं। यहां आलम्बन तो अतिथि है और उद्दीपन अतिथिका आगमन है।अब दयावीरविभावका उदाहरण कहते हैं "कथम्" इत्यादि श्लोकसे। श्लोकार्थ यह है कि मुरारि अर्थात् श्रीकृष्ण जो है सो प्रकाश-

इति किमु समुदश्चदीपलेखाभिराम-
द्युतिमुरसि मुरारिः कौस्तुभं सम्बभार ॥ १३ ॥
ननु स्वनिष्ठ उत्साहः कथमुद्दीपनविभावो भवतीति चेत्-

मान और दीपकलिकासदृश कान्तियुक्त ऐसी जो कौस्तुभमणि उसको धारण करता भया सो निरन्तर उद्योगयुक्त जो भजन उससे युक्त जो लोक है सो अत्यन्त अन्धकारयुक्त रात्रिमें किस तरह देखने योग्य होंगे यह विचार करिके। क्या यहां असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा है, यह हेतूत्प्रेक्षा निरुपाधि परदुःखप्रहरणेच्छारूप दयाको पुष्ट करतीहै यहां आलम्बन भक्तजन है। और अन्धकारयुक्त रात्रिमें वीक्षणयोग्यता उद्दीपन है।

अब यहां यह शंका हुई कि 'उत्साहाध्यवसायात्' यह पद जो दिया इससे उत्साहको उद्दीपन विभाव माननेमें अभिप्राय है अथवा उत्साहयुक्ततावुद्धिरूप जो उत्साहाध्यवसाय ताको उद्दीपनविभाव माननेमें अभिप्राय है। यहां प्रथमपक्ष नहीं बनसकताहै क्योंकि उत्साहरूप स्थायिभावका उद्दीपक उत्साहही कैसे होगा ? आपका उद्दीपक आप नहीं होसकताहै। और द्वितीयपक्षभी नहीं बन सकेगा क्योंकि उत्साहयुक्ततावुद्धिको उत्साहके अधिकरणमें स्थिति होनेसे पक्षवृत्तित्वनियम होगा इस हेतु और उत्साहयुक्ततावुद्धि उत्साहसे उत्पन्न होती है इस हेतुभी उत्साहकी अनुमापकता उसमें ध्रुव होजायगी सो होनेसे अनुभावकता कहना उसको उचित है विभावकता कहना उचित नहीं। इसही बातको " **ननु** " इत्यादि वाक्यसे कहतेहैं। वाक्यार्थ यह है कि स्वनिष्ठ अर्थात् उत्साहयुक्त पुरुषमें स्थित जो उत्साह सो उद्दीपनविभाव कैसे होगा ? उत्साहशब्दसे उत्साहयुक्त बुद्धिभी लेलेना ऐसा हुआ तो यह अभिप्राय हुआ कि उत्साह तो उत्साहकी उद्दीपक नहीं होसकैगा और उत्साहका कार्य जो उत्साहयुक्ततावुद्धिहै सो उत्साहका अनुभावभूतहै इस हेतु उत्साह वा उत्साहयुक्ततावुद्धि दोनोंको उत्साहकी कारणता नहीं होसकैगी। इसका समाधान यहहै कि जगत्में जितनी उत्साहयुक्ततावुद्धि है सो सवही उत्साहजन्य है, यह नियम नहीं किन्तु उत्साहअंशमें लौकिकसन्निकर्षजन्य जो उत्साहयुक्ततावुद्धि सो ही उत्साहजन्यहै और भावि जो उत्साह तादृशउत्साहयुक्ततावुद्धि तो उत्साहअंशमें अलौकिकहै अर्थात् ज्ञानलक्षणासन्निकर्षजन्यहै वह बुद्धि उत्साहविनाही उत्पन्न होतीहै और उत्साहको उद्दीपन करनेमें समर्थ होतीहै। उस बुद्धिविषय जो उत्साह उसको उद्दीपनविभावना होनेमें बाधक नहीं, इसही हेतु आपको आपकी जनकता होनेमें वैमत्य होताहै उसके परिहारके

सत्यम्। उद्दीपनविभावो ज्ञायमान एव गमकः। स च स्वनिष्ठः परनिष्ठो वेति न विशेषः॥ अनुभावस्तु स्वनिष्ठ एव–

अर्थ ही 'उत्साहाध्यवसायात्' यह भरताचार्यने कहा। इसही अभिप्रायसे "सत्यम्" इत्यादिवाक्यसे उत्तर देतेहैं। वाक्यार्थ यह है कि उद्दीपनविभाव वस्तुज्ञानका विषयही गमक होताहै। यहां एवकार जो दिया उससे ज्ञानके विषे उत्साहजन्यत्वका और उत्साहव्याप्ति और उत्साहका आश्रयभूत जो पक्ष तद्वृत्तित्व दोनों विषयताका निराकरण किया। यही दोनों विषयता अनुमापकतामें उपयुक्तहैं। यह कहनेसें उत्साहयुक्तताबुद्धिको अनुभावकताका खण्डन किया। ज्ञायमान जो उत्साहहै सो स्वनिष्ठ होय तो परनिष्ठ होय तो एतत्कृत कुछ विशेष नहीं जानना। यह कहनेका यह अभिप्रायहै कि पक्षमें नहीं रहनेवाला जो पदार्थ वह जिस प्रकार उद्दीपनविभाव होताहै इसही रीतिसे पक्षमें रहनेवाली वस्तुको भी उद्दीपनविभावत्व होनेमें कुछ विशेष नहीं है इस हेतु उत्साहयुक्तताबुद्धि अनुभाव नहीं होगी किन्तु उद्दीपनविभावही होगा सो जानना।

यहां कोई यह शंका करै कि अध्यवसायविषय जो उत्साह है सो उद्दीपनविभाव तो मानाही गयाहै परन्तु अनुभाव उसको क्यों नहीं मानते हो? इसका समाधान यह है कि उत्साहसे उत्पन्न जो है सो ही उत्साहका अनुभाव कहावैगा। अध्यवसायविषय जो उत्साह है सो उत्साहजन्य नहीं है। क्योंकि स्वजन्यत्व स्वमें नहीं होताहै इस हेतु अध्यवसायविषय जो उत्साह सो उत्साहका अनुभाव नहीं होसकैगा। इसही हेतु उत्साहका उपनीतभानात्मक जो उत्साहयुक्तताबुद्धि उसको भी अनुभावकता नहीं होगी, क्योंकि आपका जो उपनीत भान है उसकी आपसे उत्पत्ति नहीं होसकती है, इस हेतु वह उपनीत भान अनुभाव नहीं होसकैगा। कदाचित् यह कहो कि उत्साहसे उत्पन्न हुआ जो उत्साहका लौकिक ज्ञान तादृशज्ञानात्मक जो उत्साहयुक्तताबुद्धि उसको उत्साहकी अनुभावकता होगी सोभी नहीं बनसकैगी क्योंकि अनुभावक वस्तुका व्याप्ति और पक्षधर्मता इस करिके युक्त होकरिके जब ज्ञान होताहै तब वह अनुभव कराता है। यहां लौकिक उत्साहयुक्तताबुद्धिको व्याप्तिमत्त्व है परन्तु पक्षवृत्तित्वकरिकै उनका ज्ञान नहीं है इससे वह अनुभाव नहीं कहा सकेंगे। इसही अभिप्रायसे "अनुभावस्तु" इत्यादि कहतेहैं। वाक्यार्थ यहहै कि अनुभाव जो है सो तो स्वनिष्ठही अर्थात् पक्षमें स्थित होकरिकै ही गमक अर्थात् अनुभावक होसकतेहैं यही उत्साहयुक्तताबुद्धि पक्षमें स्थित नहीं है इसहेतु अनुभाव नहीं होगा। यहां यह शंका हुई कि उत्साह

गमकः।तस्यानुमापकत्वेन पक्षवृत्तित्वादिनियमादिति ॥ ननु दयावीरः कथं करुण एव नान्तर्भवति, निरुपाधिपरदुःखप्रहरणेच्छा दया। सा च करुणया विना न संभवतीतिचेन्न। करुणस्य स्थायिभावः शोकः, दयावीरस्य

व्याप्य 'उत्साहयुक्ततामतिमानहम्' इस प्रकारसे व्याप्तिविशिष्ट वैशिष्ट्यावगाही परामर्श हो जायगा तो पक्षधर्मताज्ञान बन जायगा फिर उत्साहयुक्ताबुद्धि अनुभाव क्यों नहीं होगा। इसका समाधान "तस्य" इत्यादिवाक्यसे कहतेहैं। वाक्यार्थ यह है कि अनुभाव जो वस्तु है ताको अनुमापकत्व अर्थात् अनुमितिजनक ज्ञानविषयत्व होनेसे पक्षवृत्तित्वका अर्थात् पक्षवृत्तित्वकरिकै ज्ञानविषयत्वका अवश्य स्थितिहै। इसका अभिप्राय यह है कि उत्साहव्याप्य 'उत्साहयुक्ततामतिमानहम्' इत्याकारक उत्साहांशमें लौकिक ज्ञानपक्षमें उत्साहवत्त्वावगाही होसकैगा परन्तु इस ज्ञानके होनेसे सिद्धि रहजायगी। सिद्धि रहनेपर उत्साहयुक्त पुरुष पक्ष नहीं बन सकैगा, क्योंकि वही उत्साह संदिग्ध नहीं है ऐसा हुआ तो पक्षता विशिष्ट वह नहीं हुवा ऐसा हुआ। तो फिर पक्षत्वविशिष्टमें धर्मता करिकै ज्ञानभी उनका नहीं होसकैगा फिर वह अनुभवभी नहीं करासकेंगे इससे वह अनुभावक नहीं कहावेंगे ॥

अब यह शंका होतीहै कि निरुपाधि परदुःखप्रहरणेच्छारूप जो दया सो दुःखमें द्विष्टसाधनताज्ञान होनेहीसे होतीहै ऐसा हुआ तो दयाकृत उत्साहकालमें अवश्य करिकै द्विष्टसाधनताज्ञानजन्य द्वेषविषयीभूत किञ्चिद्वस्तु इष्टजनसंबन्धिताकरिकै विज्ञात है इस हेतु तज्जन्य चित्तवैक्लव्य भी अवश्यही होगा फिर दयाको पृथक् करिकै क्यों कहा? करुणासेही निर्वाह होजायगा यह बात "ननु" इत्यादिग्रन्थसे कहते हैं। इस ग्रन्थका अर्थ यह है कि दयावीर करुणामें अन्तर्भूत क्यों नहीं होताहै अर्थात् दयावीरस्थानमें करुणारसही क्यों नहीं कहतेहो? क्योंकि निरुपाधि परदुःखप्रहरणेच्छा जो दया सो करुणा विना नहीं होसकतीहै तो करुणारस तो अवश्य मानना होगा, उस करुणके विना नहीं होनेवाली जो दया ताको करुणहीमें अन्तर्भावयुक्त है। अब इस शंकाका उत्तर "करुणस्य" इत्यादि ग्रन्थसे कहतेहैं, इस ग्रन्थका यह अभिप्राय है कि करुणरसका स्थायिभाव शोक है, दयावीरका स्थायिभाव उत्साह है इस प्रकारसे स्थायिभाव भेद होनेसे दयावीर भिन्न कहावेगा, करुणरस भिन्न कहावेगा ऐसा हुआ तो दयावीर किस प्रकार करुणमें अन्तर्भूत होगा, अपि तु नहीं होग

स्थायिभाव उत्साह इति स्थायिभावभेदेन भेदात् ॥ ननु दयावीरे करुणरसप्रतीतेः का गतिरिति चेत्। सत्यम्। करुणया विना दयावीरस्याऽननुभवादिति करुणाया-स्तत्रानुभावकत्वादिति ॥

अथ भयानकस्य विभावाः। तत्र भरतः-

विकृतरवसत्त्वदर्शनसङ्ग्रामारण्यशून्यगृहगमनात्।
गुरुनृपयोरपराधात्कृतकः स भयानको ज्ञेयः ॥ १४ ॥

धाटीबन्धुबन्धनश्रवणश्मशानदर्शनादय ऊहनीयाः।

यथा-

उद्यत्कान्तिकठोरकेसरदलत्पाथोधरप्रस्खल-
द्विद्युद्दीधितिकाञ्चनीकृतजगन्निःशेषभूमीधरः।

भिन्न ही रहैगा सो जानना। अब यह शंका हुई कि स्थायिभावमें इसे रसभेदको मानो तो करुणसे भिन्नता करिकै दयावीररस प्रतीति क्यों नहीं होतीहै ? यह शंका "ननु" इत्यादि ग्रन्थसे कहतेहैं। इस ग्रन्थका यह अर्थ है कि दयावीरमें करुणरसकी जो प्रतीति होती है उसकी क्या गति है अर्थात् भिन्नता करिकै दयावीर रसकी प्रतीति क्यों नहीं होती है। इसका समाधान यह है कि करुणा विना दयावीरका अनुभव नहीं होताहै इस हेतु दयावीरमें करुण रसकी अनुभावकता है तो जहां दयावीरकी प्रतीति होगी वहां करुण रसका अनुभाव होगाही इसही हेतु भिन्नता करिके दयावीरकी प्रतीति नहीं होती है, करुणके साथही प्रतीति होती है। यही बात 'करुणया विना' इत्यादि ग्रन्थसे कही है सो जानना ॥

अब भयानक रसके विभाव कहतेहैं, तहां भरतमुनिकी सम्मति दिखातेहैं "विकृतरव" इत्यादि वाक्यसे। इस वाक्यका यह अर्थ है कि विकृत(वदले)हुए शब्दसे युक्त प्राणीका दर्शन और संग्राम अथवा वन अथवा शून्य घर इनमें जाना इससे और गुरु और नृप इनके अपराधसे किया हुआ ऐसा भयानक रस होता है सो जानना। और धाडा और बन्धुओंके बन्धनका श्रवण और श्मशानदर्शन इत्यादिका भी ऊह (आक्षेप) करलेना। इसका उदाहरण "उद्यत्कान्ति" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि लोकोंने मायाहरि अर्थात् नृसिंहस्वरूपको देखा, कैसा है मायाहरि सो

स्फूर्जत्कण्ठनिनादभिन्नवसुधामार्गप्रविष्टद्विज-
प्रौढाशीर्वचनप्रहर्षितबलिर्व्यालोकि मायाहरिः ॥१५॥

अथ बीभत्सस्य विभावाः। तत्र भरतः-

अनभिमतदर्शनेन च गन्धरसस्पर्शदोषैश्च।
उद्वेजनैश्च बहुभिर्बीभत्सरसः समुद्भवति॥ १६ ॥

अहृद्यवस्तूनां श्रवणादय ऊहनीयाः॥ यथा-

योधानामधरैरशोककुसुमैर्नेत्रैः सितैरम्बुजै-
र्दन्तैः कुन्ददलैः करैः सरसिजैः संपाद्य पुष्पाञ्जलिम्।

कहतेहैं कि प्रकाशमान और तीक्ष्ण जो केसर अर्थात् सटा उनसे स्फुटित जो पाथोधर अर्थात् मेघ उनसे प्रकट होती हुई जो बिजलियां उनकी किरणोंसे काञ्चनरूप करिके सम्पन्न ऐसे किये हैं जगत्के सम्पूर्ण पर्वत जिसने ऐसा। फिर कैसा है कि प्रकर्ष करिके बढा हुआ जो कण्ठगर्जन उससे विदीर्ण जो पृथिवी उस पृथिवीके उसी विवरमें प्रविष्ट जो ब्राह्मण उनके ओजयुक्त जो आशीर्वादवचन अर्थात् अभयतात्पर्यसे उच्चारण किये हुए वचन उन वचनोंसे प्रहर्षित अर्थात् हर्षयुक्त किया है बलिका गृह जिसने ऐसा। यहां नामग्रहणमें नामैकदेशका ग्रहण कियाहै सो जानना। यहां भयानकका आलम्बन नृसिंह है और उसका जो विकृत रव (शब्द) सो उद्दीपन है। और बलिसभास्थित महाजनोंमें व्यञ्जित हुआ बलि तो दानवीर है उसको हर्षोत्पत्ति होनेसे भी क्षति नहीं है।

अब बीभत्स रसके विभाव कहतेहैं, तहां भरतसम्मति दिखातेहैं। "अनभिमत" इत्यादिवाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि अनीप्सित वस्तुके दर्शनसे और गन्ध रस तथा स्पर्श इनके दोषसे और उद्वेगजनक जो बहुत वस्तु उनसे बीभत्स रस उत्पन्न होताहै। और अप्रिय वस्तुके जो श्रवणदर्शनादि उनकाभी ऊह कर लेना। इसका उदाहरण "योधानाम्" इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं। श्लोकार्थ यह है कि हाथियोंके रक्तसे अवसिक्त अर्थात् लिप्त ऐसे कुत्सित अंग हैं जिनके ऐसे जो प्रेतोंके बटुक अर्थात् बालक वे महादेवके आगे नृत्यका आरम्भ करतेहैं। क्या करिके सो कहतेहैं कि योद्धाओंका जो ओष्ठ सोही रक्तता करिके हुआ अशोकपुष्प और नेत्र जो हैं सोही नीरक्ततासे हुए श्वेत कमल और दन्त जो हैं सो स्वच्छ समानाकृतिसे हुए कुन्ददल और संकुचितांगुलिदलयुक्त होनेसे हस्त

झिल्लीं कर्णयुगे विधाय करिणां रक्तावसिक्तांगकैः
प्रेतानां बटुकैः पुरः पुरभिदो नृत्यं समारभ्यते ॥ १७॥

अथाद्भुतरसस्य विभावाः । अत्र भरतः—
यत्त्वतिशयार्थयुक्तं वाक्यं शिल्पं च कर्म रूपं च।
तत्संबद्धैरर्थै रसोऽद्भुतो नाम सम्भवति ॥ १८ ॥

मायेन्द्रजालार्थलाभादय ऊहनीयाः ॥ यथा—
उद्दामोद्दाममाद्यत्प्रतिभटदलनोदग्रजाग्रत्प्रभावः
सोऽयं देवो मुदे वो भवतु नरहरिस्तारिताशेषविश्वः ।

जो हैं सोही हुए सरसिज इनसे पुष्पाञ्जलि संपादन करिकै,फिर क्या करिकै,झिल्ली जो झींगुर उसको दोनों कानोंमें धर करिकै अर्थात् दोनों पार्श्वमें स्थित वाद्य- विशेषद्वयकरिकै। यहां बीभत्सके आलम्बन तो प्रेत हैं और अधरादिका दर्शनादि उद्दीपन है सो जानना ॥

अब अद्भुतरसको विभाव कहतेहैं तहां भरतसम्मति दिखातेहैं। "यत्त्वतिश- यार्थयुक्तम्" इत्यादि वाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि आश्चर्य करिकै युक्त जो वाक्य अर्थात् वन्ध्यापुत्र मैंने देखाहै इत्यादि वाक्य और शिल्प और कर्म यह दोनों भी अतिशयार्थ युक्तही जानना। इससे मिलित जो अर्थ हैं उनसे अद्भुतनाम रस होताहै। और माया, इन्द्रजाल, अर्थलाभादिकाभी ऊह करलेना ॥

यहां मायाशब्दका अर्थ तपःसाध्य प्रभावातिशय है, इसका उदाहरण ग्रन्थान्त- रमें अर्थात् अभिज्ञानशाकुन्तलनाम नाटकमें है यहां नहीं दिखाया। अब अतिशया- र्थयुक्तवाक्यसे संबद्ध अर्थसे अद्भुतरसका उदाहरण दिखाते हैं "उद्दामोद्दाम" इत्यादि श्लोकसे। श्लोकार्थ यह है कि सकलपरमानर्थविनाशक होनेसे तारित कियाहै सम्पूर्ण विश्व जिसने ऐसा जो वह प्रसिद्ध नृसिंहदेव सो तुम्हारे कल्याणकेलिये होवो। वह कौन सो कहतेहैं कि जिसके प्रौढप्रतापसे उद्भट अर्थात् दुर्निरीक्ष्य और विकट कहिये कराल ऐसी जो सटाकोटि अर्थात् केसरोंके आग्रभाग उनसे विदारित जो मेघ तिनके आँतही मानों विजलीके छलसे बाहर निकलेहैं। वह नृसिंह कैसाहै कि अधिकसे अधिक मदयुक्त जो शत्रु तिनके दलनसे उदग्र अर्थात् सातिशय जाग्रत् अर्थात् अनुभूयमान प्रभाव अर्थात् प्रताप है जिसका ऐसा। यहां अद्भुत रसको आलम्बन तो नृसिंह है और अतिशयार्थ युक्त जो

यस्य प्रौढप्रतापोद्भटविकटसटाकोटिभिः पाटितानां-
मन्त्राण्यम्भोधराणां बहिरिव निरगुर्विद्युतां कैतवेन ॥ १९ ॥

इन्द्रजालार्थलाभो यथा-

व्योम्नि प्रांगणसीम्नि सान्ध्यकिरणं विस्तीर्य चेलाञ्चलं
ध्वान्तैः कार्मणपांसुभिस्त्रिजगतां नेत्राणि संमोहयन् ।
ताराः शौक्तिकमौक्तिकानि विहगश्रेणीरवच्छद्मना
झिंझीकृत्य बहिः करोति वदनात्पञ्चाशुगो मायिकः ॥ २० ॥

इति श्रीभानुदत्तविरचितायां रसतरंगिण्यां विभावनिरूपणं
नाम द्वितीयस्तरंगः ॥ २ ॥

वाक्य तत्संबद्ध अर्थ उद्दीपक है । इन्द्रजालमन्त्रशक्तिको कहतेहैं, उसका उदाहरण "व्योम्नि" इत्यादिश्लोकसे कहतेहैं । श्लोकार्थ यह है कि पञ्चाशुग अर्थात् कामदेव जो है सो ही हुआ मायिक अर्थात् मन्त्रशक्तिवाला सो आकाश जो है सो ही हुआ प्रांगणसीमा अर्थात् चतुष्पथ उसमें सन्ध्याकालिक जो किञ्चिद्रक्त किरण सोही हुआ वस्त्रसम्बन्धी अञ्चल उसको विस्तीर्ण करिके और अन्धकार जो है सोही हुआ कार्मणपांसु अर्थात् दृष्टिबन्धार्थ बिखेरीहुई धूलि तिन करिके त्रिलोकीके नेत्रोंको संमोहित करता हुआ, तारा जो हैं सोही हुवे सीपके मोती उनको मुखसे बाहर करताहै । क्या करिके, विहगसमूहका जो शब्द उसके छलसे झिंझि ऐसा शब्द करिके । यहां कामदेवके मुखसे मौक्तिकका बाहर होना यह बाधित अर्थ है इस हेतु यहां लक्षणसे मन्त्रशक्तिप्रभावसे लोकको दिखाता हुआ यह अर्थ जानना । यहां अद्भुत रसका आलम्बन तो काम है और उसको इन्द्रजाल उद्दीपन है सो जानना ॥

इति श्रीरसतरङ्गिणीभाषाटीकायां विभावनिरूपणं नाम द्वितीयस्तरङ्गः ॥ २ ॥

तृतीयस्तरंगः ३.

अथाऽनुभावा निरूप्यन्ते।ये रसाननुभावयन्ति अनुभवगोचरतां नयन्ति ते अनुभावाः कटाक्षादयः, करणत्वेनाऽनुभावकता। करणत्वं च फलायोगव्यवच्छेदसम्ब-

अब रसतरंगतिसे विभावनिरूपणानन्तर अनुभावनिरूपणकी प्रतिज्ञा करते हैं "अथ" इत्यादि वाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि अथ कहिये विभावनिरूपणानन्तर अनुभाव जे हैं ते निरूपण किये जाते हैं। जो रसोंको अनुभावित करैं अर्थात् अनुभवगोचरताको प्राप्त करैं वे अनुभाव कहे जातेहैं। जैसे कटाक्षादिक अनुभाव हैं। क्योंकि कटाक्षादि देख करिकै रसका अनुभव अर्थात् अनुमिति लोगोंको होतीहै इस हेतु कटाक्षादिक अनुभाव हैं, अनुभाव शब्दका फलित अर्थ यह है कि जो रसानुमितिका कारण होय सो अनुभाव है। अब यह शंका होती है कि जिसप्रकार कटाक्षादि ज्ञानसे रसकी अनुमिति होती है तिसही प्रकार विभावका ज्ञान होकरिकै रसज्ञानसम्पादनद्वारा स्थायिभावकी अनुमिति होतीहै तो स्थायिभावाऽनुमितिमें कारण विभावभी होताहै तो अनुभावके लक्षणाकी विभावमें अतिव्याप्ति हुई इसका समाधान यह है कि यहां जो अनुभवकारणता लेना सो करणत्व धर्मसे लै तो अभिप्राय यह है कि रसानुभवका जो करण है सो अनुभाव है, ऐसा कहनेसे भी विभावमें अतिव्याप्तिका वारण नहीं होसकैगा, क्योंकि व्यापारवाला जो कारण सोही करण कहाताहै, तो विभावभी रसज्ञानसम्पादनरूप व्यापारवाला है और स्थायिभावाऽनुमितिमें कारणभी है तो विभावकी रसाऽनुभवकरणता होगई इस हेतु करणत्वका दूसरा अर्थ करतेहैं "करणत्वं च" इत्यादि वाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि फलका जो अयोग कहिये अभाव उसको निवृत्त करनेवाला जो कारण होय सो करण है ऐसा हुआ तो कटाक्षादिदर्शनसे उत्तरकालमें स्थायिभावकी अनुमिति नियम करिकै होतीहै, विभावज्ञानसे नियम करिकै स्थायिभावकी अनुमिति नहीं होतीहै किन्तु मध्यमें रसज्ञानसम्पन्न होकरिकै स्थायिभावकी अनुमिति होतीहै और कटाक्षादिका ज्ञान होकरिकै अव्यवहित ही स्थायिभावकी अनुमिति होती है इस हेतु फलके अभावको निवृत्त करनेवाला कारण विभाव नहीं है कटाक्षादि हैं, इससे कटाक्षादिमें लक्षणसमन्वय होगया, विभावमें अति-

व्याप्तिवारण हुआ सो जानना। अब यह शंका हुई कि अनुभाव जो वस्तु है उसके होनेपरभी स्थायिभावानुमितिका कदाचित् अयोगभी होताहै क्योंकि अनुभावका ज्ञानमात्रही स्थायिभावाऽनुमितिमें चरम कारण नहीं है और कारणकी भी स्थिति होती है तब स्थायिभावानुमिति होतीहै इससे यह सम्पन्न हुआ कि अनुभावके रहनेपरभी कदाचित् फलका अयोग होताहै कदाचित् फल होताहै इसही रीतिसे विभावके रहनेपरभी कोई कालमें फल होगा कोई कालमें नहीं होगा तो विभावमें अतिव्याप्ति पूर्ववत् स्थित रही। इसका समाधान यह है कि रसाऽनुगुण जो स्थायिभावाऽनुमिति अव्यवहितपूर्वत्वसम्बन्ध करिकै तादृशाऽनुमितिसे उपहित अर्थात् युक्त स्थायिभावनिरूपित व्याप्ति और पक्षधर्मता इन दोनोंको विषय करनेवाला यद्वस्तुविषयक यथार्थ ज्ञान सामान्य होय वही वस्तु अनुभाव है। ऐसा हुआ तो विचार करिके देखो कि रतिरूप जो स्थायिभाव है उसका साहचर्यनियमरूप जो व्याप्ति तादृशव्याप्तियुक्त जो कटाक्षादि उसका नायकनायिकादि आलम्बन विभावरूप जो पक्ष तादृशपक्षवृत्तित्वविषयक जो यथार्थ ज्ञानसामान्य है अर्थात् यावत् यथार्थ ज्ञान है सो सम्पूर्ण शृंगाररसाऽनुगुण जो रत्यनुमिति अव्यवहितपूर्वत्वसम्बन्ध करिके तादृश अनुमितिकरिके युक्त है इस हेतु यच्छब्दवाच्य जो कटाक्षादि सो अनुभाव कहाताहै। ऐसा हुआ तो पूर्व जो आलम्बनविभावमें अतिव्याप्तिशङ्का हुईथी वह निरस्त हुई क्योंकि रतिरूप स्थायिभावका साहचर्यनियमरूप जो व्याप्ति (जहां जहां तादात्म्यसम्बन्ध करिके आलम्बन विभाव है तहां तहां विषयतासम्बन्धकरिके रतिरूप स्थायिभाव है यही साहचर्य नियमरूप व्याप्ति है) सो व्याप्ति तादात्म्यसम्बन्ध करिके आलम्बनविभावमें बन सकेगी तादृशव्याप्तिविशिष्ट नायकनायिकादिरूप आलम्बनविभाव होगा। उस आलम्बन विभावको नायकनायिकादिरूप जो पक्ष उसमें वृत्तित्वका यथार्थ ज्ञान होगा। वह ज्ञान रसानुगुण जो स्थायिभावानुमिति अव्यवहितपूर्वत्वसम्बन्ध करिके तादृशाऽनुमितिसे युक्तभी होगा ऐसा होगा तो यच्छब्दवाच्य जो नायकनायिकादिरूप आलम्बनविभाव सो अनुभाव कहाजायगा परन्तु तादात्म्यसम्बन्ध करिके व्याप्तिका स्वीकार हमारे मतमें नहीं है। ऐसा हुआ तो आलम्बनविभाव स्थायिभाव व्याप्तिविशिष्ट नहीं होंगे। फिर कैसे अनुभावका लक्षण उनमें प्राप्त होगा, अपि तु नहीं होगा, उद्दीपनविभाव जो वस्तुहैं उनके पक्षभूत आलम्बनविभावमें रतिरूपस्थायिभावनिरूपित व्याप्तिविशिष्ट उद्दीपनविभाववस्तुका यथार्थ ज्ञान नहीं होसकेगा इस हेतु उद्दीपनविभावमें अनुभावका लक्षण नहीं प्राप्त होगा। यहां यह शंका हुई कि जहां यह नायक रतिमान् नहीं है ऐसा बाधज्ञान है तहां 'रतिव्याप्यकटाक्षा-

न्धित्वम्। ननु रसे कथमनुभावकापेक्षेति चेत्। सत्यम्, स्थायीभावः परिपूर्णो रसः, तस्य चान्तरत्वाज्ज्ञापकेन विना कथं ज्ञानमित्यनुभावस्यापेक्षणीयत्वात्॥

द्विमानयम' ऐसा ज्ञान होगा तोभी रतिकी अनुमिति नहीं होसकेगी तो यह परामर्श अव्यवहितपूर्वत्वसम्बन्धकरिके अनुमितियुक्त नहीं होगा, इस हेतु कटाक्षरूप अनुभावमें अव्याप्ति होजायगी। इस हेतुका समाधान यह है कि अनुभावलक्षणमें तो यथार्थज्ञानपद है नहीं यथार्थज्ञानमें प्रतिबन्धकका असमानकालिकत्वविशेषण देना तो प्रकृतमें जो यथार्थज्ञान है सो प्रतिबन्धकसमानकालिक है इस हेतु अनुभावमें अव्याप्ति नहीं होगी। यहां सामान्यपद नहीं देवें तो स्थायिभावका व्याप्तिपक्षधर्मताऽवगाही जो विभाव अनुभावविषयक समूहालम्बन ज्ञान है वहभी ज्ञान विभावविषयक यथार्थ ज्ञान है तो विभावमें अतिव्याप्ति होगी इस हेतु सामान्यपद दिया तब विभावमें अतिव्याप्ति नहीं होगी क्योंकि व्याप्ति पक्षधर्मतावगाही अनुभावविषयक जो समूहालम्बनभिन्न ज्ञान है वह ज्ञान तो अनुमितियुक्त होगा और विभावविषयक जो समूहालम्बन ज्ञान लिया वहभी अनुमितियुक्त है परन्तु विभावविषयक यथार्थ ज्ञान जितनेमें हैं सो सम्पूर्ण अनुमितियुक्त नहीं हैं कितनेक विभावविषयक ज्ञान तो यथार्थही नहीं होंगे इस हेतु अतिव्याप्ति नहीं होगी सो जानना। यह जो अनुभावका लक्षण कहाहै सो दोषमहिमाकरिकै अपने आत्मामें शकुन्तलाविषयकरतियुक्त दुष्यन्ताऽभेदविषयक काव्यार्थभावनाजन्य विलक्षणविषयताशाली बोध रस है। यह जो वक्ष्यमाण मत उसके अभिप्राय करिकै जानना। विशेषवार्ता इस विषयकी जो यहां नहीं कहीहै वह रसनिरूपणप्रकरणमें कहैंगे सो जानना। वास्तविक ठीक विचार करैं तो अनुशब्दका 'अनु पश्चाद्भवन्ति' इस व्युत्पत्तिसे रतिसे पीछे जो होय उनको कहना अनुभाव यही अनुभावशब्दका अर्थ होताहै। ऐसा हुआ तो अवच्छेदकताऽसमवाऽन्यतरसम्बन्धाऽवच्छिन्ना या स्थायिभावनिष्ठा कारणता तन्निरूपिता जो समवायसम्बन्धावच्छिन्ना कार्यता तादृशकार्यत्व जो है सोही अनुभावसामान्यलक्षण जानना। नवीन कहतेहैं कि अनुभावव्यवहारविषयत्व अथवा संकेतसम्बन्धकरिकै अनुभावपदवत्त्व यही अनुभाव सामान्यलक्षण है॥ यहां यह शंका होतीहै कि रसमें अनुभावककी अपेक्षा किस प्रकार है इसका अभिप्राय यह है कि भाव्यमान जो विभाव है उसको ही रसरूपता है इस हेतु वह विभाव प्रत्यक्षसिद्ध है वही अनुभावककी अपेक्षा कोई रीतिसे नहीं होतीहैं यही बात "ननु" इत्यादि ग्रन्थसे

ननु कटाक्षादयः कथमुद्दीपनविभावा न भवंति, दृष्टे कटाक्षादौ कामिनोर्मनोविकारः परिपूर्णो भवति । अनुभवसिद्धत्वेनापह्नोतुमशक्यत्वात् । किंच, प्राचीनसंमतिरपि-

ईषद्वक्रितपक्ष्मपंक्तिभिरनाकूतस्मितैर्वीक्षितै-
रेतैरेव तवाद्य सुन्दरि करक्रोडे जगद्वर्तते ।
अन्तःपांसुलहेमकेतकदलद्रोणी दुरापश्रियो
दोर्मूलस्य विभावनादिषु पुनः क्रूरे किमाकाङ्क्षसि ॥१॥

कहतेहैं । इसका समाधान यह है कि विभाव अनुभाव व्यभिचारिभावसंयोगसे रसनिष्पत्ति होती है इस अर्थको जनानेवाला जो "विभावाऽनुभावव्यभिचारिसंयोगा रसनिष्पत्तिः" यह भरतसूत्रहै इसमें मिलित जो तीन उनका उपादान है इस हेतु इन तीनोंमें एकएकको रसत्व नहीं है किन्तु इन तीनोंके संयोगसे रसपदार्थ निष्पन्न होताहै सो रस आन्तर पदार्थ है इस हेतु उसका प्रत्यक्ष नहीं होसकताहै । तब ज्ञापकके विना उसका ज्ञान किस प्रकार होगा इससे अनुभावकी अपेक्षा अवश्य होगी यही बात "स्थायी भावः परिपूर्णो रसः" इत्यादिग्रन्थसे कहतेहैं ॥ अब यहां यह शंका होती है कि चन्द्रादिकी तरह कटाक्षादिको भी मनोविकारकी उत्कर्षकता 'आदौ रक्ता भवेन्नारी पुमान् पश्चात्तदिङ्गितैः' इत्यादिवाक्योंसे शृंगारतिलकादि ग्रन्थोंमें कहीहै । और अनुभवसिद्ध भी यह बात है इस हेतु कटाक्षादिको विभाव कहना युक्त है, अनुभाव कहना युक्त नहींहै, यह आशंका "ननु" इत्यादिग्रन्थसे कहतेहैं । इसका अर्थ यह है कि कटाक्षादि जे हैं त उद्दीपनविभाव क्यों नहीं होतेहैं क्योंकि कटाक्षादिका दर्शन होनेपर नायकनायिकाका मनोविकार परिपूर्ण होताहै यह बात अनुभवसिद्ध है इस हेतु इसका अपह्नव करनेको शक्य नहीं है । अपने अनुभवको प्राचीन विद्वानोंके अनुभव संवादके साथ प्रमाणयुक्त करते हैं । "किञ्च" इत्यादि वाक्यसे । श्लोकार्थ यह है कि नायिकाके प्रति सखीका वाक्य है कि हे सुन्दरि ! किञ्चित् चलित जो नेत्रपत्र उनकी श्रीकरिकै युक्त और विना अभिप्राय करिकै जो स्मित उससे युक्त जो वीक्षण (देखना) इन वीक्षणोंही करिकै तेरे हस्तपञ्जरमें जगत्के रसिक जन स्थित होरहेहैं अर्थात् सम्पूर्ण पुरुष तेरे अधीन होरहे हैं । हे क्रूरे ! अर्थात् किञ्चित्कालके वियोगमात्र करिकै ही अति संताप देनेवाली ? इस संसारमें बाहुमूलके विभावन अर्थात् वारंवार देखनेसे क्या आकाङ्क्षा करती है अर्थात् क्या चाहती है ।

इत्यादय इति चेत् । सत्यम्, कटाक्षादीनां करणत्वेनानुभावकत्वम्, विषयत्वेनोद्दीपनविभावत्वम्, तथा चात्मनि रसाऽनुभवकरणत्वेन नायकं प्रति कटाक्षादयोऽनुभावाः । ते च दृष्टिगोचरीभूताः कामिनोर्मनोविकारं कारयन्तो विषयत्वेनोद्दीपनविभावा इति ॥

स चानुभावः कायिकमानसाहार्यसात्त्विकभेदाच्चतुर्धा ॥

कायिका भुजक्षेपादयः, मानसाः प्रमोदादयः, नाट्ये चतुर्भुजत्वज्ञानादय आहार्याः, सात्त्विका रोमाञ्चादयः ॥

अथ शृङ्गारस्याऽनुभावाः । तत्र भरतः—

कैसा है बाहुमूल कि भीतर पांसुल अर्थात् धूलिधूसर ऐसा जो हेमकेतक उसकी जो दलद्रोणी अर्थात् पत्रोंका गुच्छ ताकरिकै नहीं प्राप्त होनेके योग्य है शोभा जिसकी ऐसा । इस प्राचीन लेखसे कटाक्षादिको भी उद्दीपनविभावता दिखाई सो क्यों नहीं कही इसका समाधान "कटाक्षादीनाम्" इत्यादि ग्रन्थसे कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि कामी और कामिनीका जो मनोविकार उसका व्यधिकरण होकरिकै परिपोषकता रहनेसे उद्दीपन विभावरूप भी जो कटाक्षादि हैं, तिनको रतिरूप स्थायिभावका व्याप्ति और पक्षवृत्तित्व दोनों विषयक जो ज्ञान तादृश ज्ञानविषयत्वरूप करणत्व होनेसे अनुभावकता भी होसकती है और प्रकर्षयुक्त रसजनकज्ञानविषयत्व होनेसे उद्दीपन विभावत्व भी होसकताहै ।

अब अनुभावका विभाग "स च" इत्यादि ग्रन्थसे कहतेहैं । इसका यह अर्थ है कि वह अनुभाव चार प्रकारका है—एक कायिक, दूसरा मानस, तीसरा आहार्य, चौथा सात्त्विक । तहां भुजक्षेपादि तो कायिक अनुभाव हैं और प्रमोदादि मानस अनुभाव हैं और नाट्यमें जो चतुर्भुजत्वका आरोप होताहै वह आहार्य अनुभाव है और रोमाञ्चादि सात्त्विक अनुभाव हैं ॥ अब शृंगारके अनुभाव कहतेहैं "अथ" इत्यादि वाक्यसे। तहाँ भरतसम्मति दिखातेहैं "तत्र" इत्यादि वाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि नेत्रके और मुखके जो प्रसाद तिनकरिकै और स्मित और मधुर वचन और प्रमोद इनसे और विविध जो अंगविकार अर्थात् चुम्बनयाचनाबोधक जो ओष्ठपुटाकुञ्चनादि और सात्त्विकभाव इनसे शृंगार रसका अभिनय अर्थात् तद्व्यञ्जिका चेष्टा प्रयोग करनेके योग्य है । कटाक्ष और भुजक्षेपादिका ऊह कर लेना ॥

नयनवदनप्रसादैः स्मितमधुरवचनप्रमोदैश्च ।
विविधैरङ्गविकारैस्तस्याऽभिनयः प्रयोक्तव्यः ॥ २ ॥
कटाक्षभुजक्षेपादय ऊहनीयाः । यथा-
मुक्ताहारः स्तनकलशयोः कर्णयोः कर्णिकारं
मौलौ माला परिभवभयादेव दूरे न्यवारि ।
दृष्टेऽभीष्टे समजनि पुनः सुभ्रुवो भूषणाय
प्रातर्वातोत्तरलकमलद्रोहदक्षः कटाक्षः ॥ ३ ॥
अथ हास्यस्याऽनुभावाः । तत्र भरतः-
विकृताकारैर्वाक्यैरङ्गविकारैर्विकृतविषेशैश्च ।
हास्यं जनयेद्यस्मात्तस्माज्ज्ञेयो रसो हास्यः ॥ ४ ॥
आस्याधरविवरणदशनदर्शननासाकपोलस्पन्ददृष्टिव्या-
कुञ्चनादय ऊहनीयाः । यथा-

अब शृंगाररसके अनुभावका उदाहरण " मुक्ताहारः " इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं। श्लोकार्थ यह है कि सखीके प्रति सखीका वचन है कि सूर्योदयकालिक और वातकरिकै चञ्चल ऐसा जो कमल उसके द्रोहमें चतुर अर्थात् उस कमलके सदृश जो कटाक्ष है सोही प्रियतमका दर्शन होनेपर सुन्दर है भ्रुकुटी जिसकी ऐसी जो नायिका उसका भूषण अर्थात् सर्वातिशयको धारण करनेके अर्थ पैदाहुआ कटाक्षही भूषणके अर्थ हुआ । और अलंकरण क्यों नहीं हुआ इस अपेक्षासे कहतेहैं कि स्तनरूप जो कलश उनमें जो मुक्ताहार सो और कानोंमें जो कर्णिका अर्थात् पुष्प है सो और केशपाशमें जो माला है सो परिभवभय अर्थात् मालिन्य संभावनाके उद्वेगसे दूर त्याग की गई, यहां नायकविषयक जो नायिकाकी रति है उसका कटाक्ष अनुभाव है ।

अब हास्य रसके अनुभाव कहतेहैं । तहां भरतसम्मति दिखातेहैं " तत्र " इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि हास्य अर्थात् मुखविकासको जिस हेतुसे उत्पन्न करताहै तिस हेतुसे रस जो है सो हास्यपदवाच्य कहाताहै सो रस विकृताकार वाक्योंसे अर्थात् हसगद्गदाक्षर वाक्योंसे और अंगविकार अर्थात् शैथिल्यादिसे और विकृत वेष अर्थात् वदनरक्ततादिसे ज्ञेय अर्थात् अनुमान करने योग्य है, मुख और ओष्ठ अधर दोनोंका जो विवरण अर्थात् चालन और दन्तक

पात्रीकृत्य कपालमण्डलमिदं पीयूषभानोः कलां
वर्तीकृत्य फणामणिं फणिपतेः सम्पाद्य तस्यां शिखाम्।
सायं दीपविधिं वितन्वति शिशौ मन्दं हसन्त्या तया
किञ्चित्कुञ्चिदपांगभंगकुटिला दृष्टिः समारोपिता॥ ५॥

अथ करुणाऽनुभावाः। तत्र भरतः—

निःश्वसितेन च रुदितैर्मोहागमनपरिदेवनैश्चैव।
अभिनेयः करुणरसो देहाघातादिभिश्चैव॥ ६॥

मुखशोषप्रलापवैवर्ण्यादय ऊहनीयाः। यथा—

ताते निर्गच्छति गणपतौ नाकमद्याऽपि तस्या
वाचां देव्यास्त्यजति शिथिलं कङ्कणं नैव दोष्णोः।
अद्याप्याद्रीभवति कुचयोर्नैव पाटीरपंको
नेत्रे निर्यत्पयसि न पुनः कज्जलं स्थैर्यमेति॥ ७॥

दर्शन और नासा और कपोलका किञ्चिच्चलन और दृष्टिका व्याकुञ्चन अर्थात् संकोच इत्यादिका भी ऊह करलेना। अब हास्यरसके अनुभावका उदाहरण "पात्रीकृत्य" इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं। श्लोकार्थ यह है कि, किसी रुद्रगणकी यह उक्ति है कि मन्द कहिये ईषत् हँसती हुई जो पार्वती उसने शिशु जो गणेश वा स्वामिकार्तिक उसमें किञ्चित् कुञ्चित अर्थात् ईषन्निमीलित जो नयनप्रान्त उसका जो भंग कहिये रचना उस करिके कुटिला अर्थात् वक्रा जो दृष्टि सो आरोपित अर्थात् स्थापित की। कैसा है शिशु सो कहतेहैं कि, मण्डलाकार जो कपाल उसको पात्र बना करिकै उस पात्रमें चन्द्रकलाको बत्ती बना करिकै फणिपति अर्थात् शेषनागकी फणामणिको उस बत्तीमें शिखा सम्पादन करिकै दीपविधिको विस्तारित करे ऐसा। यहां पार्वतीनिष्ठ जो हास्य उसका अनुभाव कुटिला दृष्टि है सो जानना॥

अब करुण रसके अनुभाव कहते हैं। तहां भरतसम्मति दिखातेहैं—"निःश्वसितेन" इत्यादि वाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि निःश्वाससे और रोदनोंसे और मोहागमन और दुःख कथा इनसे और देहताडनादिसे करुण रस जो है सो अभिनेय अर्थात् जनाने योग्य है। और मुखशोषण और प्रलाप और विवर्णता इत्यादिका भी ऊह करलेना इसका उदाहरण " ताते निर्गच्छति " इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं।

अथ रौद्ररसस्याऽनुभावाः । तत्र भरतः-

नानाप्रहरणसंकुलशिरसः कम्पैः कराग्रनिष्पेषैः ।
घोरैरर्थविशेषैस्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः ॥ ८ ॥

भ्रुकुटीदन्तौष्ठपीडनादय ऊहनीयाः । यथा-

येये भीमेन बद्धभ्रुकुटिघनरवं दन्तनिष्पीडितोष्ठं
विक्षिप्ता व्योम्नि विन्ध्याचलचटुलचमत्कारभाजः करीन्द्राः ।
तेषामेषा कपोलादिव भयविधुता काचिदुड्डीय लग्ना
बिम्बे पीयूषभानोर्मधुकरपटली लाञ्छनस्यच्छलेन ॥ ९ ॥

अथ वीरस्याऽनुभावाः । तत्र भरतः-

श्लोकार्थ यह है कि भानु कविका पिता जो गणपति सो स्वर्गको प्राप्त होतसन्तै उनकी जो सरस्वती देवी उसकी पीडा कहतेहैं कि कविताको करनेवाला मैं हूं तो भी हमारे पिता जो गणपति मिश्र सो स्वर्गको जातसन्तै अबतक भी उनकी जो वाग्देवी है उसका दोनों बाहुका जो कंकण है सो शिथिलताको नहीं त्याग करताहै और आज भी गणपतिमिश्रके वियोगसे जो सन्ताप ताकरिके दोनों स्तनोंमें जो चन्दनका पंक सो आला नहीं होताहै किन्तु शुष्कही रहताहै । और निकलता है अश्रु जिससे ऐसे जो नेत्र उनमें कज्जल स्थिरताको प्राप्त नहीं होताहै, किन्तु बहताही जाताहै । यहां गणपतिमिश्रालंबनक जो सरस्वतीनिष्ठ करुणा रस उसका अभिव्यक्त जो निःश्वासरोदनादि सो अनुभावक है ।

अब रौद्ररसके अनुभाव कहतेहैं । तहां भरतसम्मति दिखातेहैं । "नानाप्रहरण" इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि नानाप्रहारसे व्याकुल जो शिर उसके कम्पोंसे और हस्ताग्रका जो मसलना उनसे और घोर जो अर्थविशेष अर्थात् नहीं देखनेके लायक कर्म विशेष इनसे रौद्रका अभिनय प्रयोक्तव्य है। और भ्रुकुटी और दन्त, ओष्ठका पीडन इत्यादिका भी ऊह करदेना । इसका उदाहरण-"येये" इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं । श्लोकार्थ यह है कि भीमसेनने बांधीहै भ्रुकुटि जिस क्रियामें जैसे होय तैसे और घोर है शब्द जिस क्रियामें जैसे होय तैसे और दन्तकरिके निष्पीडित है ओष्ठ जिस क्रियामें जैसे होय तैसे आकाशमें जो जो हाथी फैंके उनके कपोलसे भययुक्त हो करिकेही मानो उडकरिके यह मधुकरपटली अर्थात् भ्रमरोंका समूह जो है सो लाञ्छनके छलसे चन्द्रमण्डलमें लगगयाहै । कैसे हैं हस्ती कि विन्ध्याचलका जो चटुल चमत्कार

शौर्यैधैर्यैर्वीर्यैरुत्साहपराक्रमप्रभावैश्च ।
वाक्यैराक्षेपकृतैर्वीररसः सम्यगभिनेयः ॥ १० ॥

विजयबलादय ऊहनीयाः ॥ नन्वतीन्द्रियस्य रसस्य ज्ञापकाः शरीरधर्मा भवितुमर्हन्ति त एव सर्वत्रोक्ताः। तथा च धैर्योत्साहौ न शरीरधर्माविति चेत्। सत्यम्, धैर्यपदेन चाञ्चल्याभाव उत्साहपदेन चाश्रुपातादयो विवक्षिताः। यद्वा—अनुभावश्चतुर्विधः,तत्र मानसोऽप्यनुभाव उक्तः। तस्य च ज्ञानमेवाऽनुभावकम्। तच्च मानसमैन्द्रियकं वेति न विशेषः॥ युद्धवीरस्याऽनुभावो। यथा—

अग्रे वासवजित्समग्रसमरव्यापारदीक्षागुरुः
पार्श्वे तस्य विपक्षपक्षदमनक्रीडाधनो रावणः।
इत्थं जल्पति सर्वतः परिजने सन्ध्यास्मृतिं कुर्वतः
श्रीरामस्य न कुम्भकस्य पवने क्षुण्णः स कोऽपि क्रमः ११

सो है जिनके ऐसे। यहां भीमनिष्ठ जो दुर्योधनालम्बनक रौद्र तिसका दुर्निरीक्ष्य कर्म जो हस्तीका फेंकना तथा ओष्ठपीडनादि अनुभव है।

अब वीर रसके अनुभाव कहतेहैं तहां भरतसम्मति दिखातेहैं "शौर्यैः" इत्यादि वाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि शूरताओंसे और धैर्योंसे और वीर्योंसे और उत्साह और पराक्रम और प्रभाव इनसे और आक्षेपकृत वाक्योंसे वीर रस सम्यक्प्रकारसे अभिनय करने योग्य है। यहां वीर्य बलविशेषको कहतेहैं, पराक्रम परबन्धनादिको कहतेहैं, और प्रभाव मारणादिको कहतेहैं, आक्षेप तिरस्कारको कहतेहैं, और विजयका बल इत्यादिका भी ऊह करलेना। अब यहां यह शंका होतीहै कि अप्रत्यक्ष रसके जनानेवाले शरीरके धर्म होनेके योग्य हैं। और सो ही सब जगह कहेहैं ऐसा हुआ तो धैर्य और उत्साह यह दोनों शरीरधर्म नहीं हैं फिर यह अनुभाव अर्थात् अनुभावक किस प्रकार होगा। इसका समाधान यह है कि यहां धैर्य शब्दकरिके चञ्चलताका अभाव कहतेहैं और उत्साह शब्दकरिके अश्रुपातादि कहतेहैं। ये दोनों शरीरधर्म ही हैं इस हेतु अनुभाव होसकेंगे। अथवा अनुभाव चार प्रकारका पूर्व कहाहै तहां मानस भी अनुभाव कहाहै। उसका ज्ञानही अनुभावक है सो ज्ञान मानस होय अथवा ऐन्द्रियक अर्थात् प्रत्यक्ष होय इसमें कुछ विशेष नहीं है। इस हेतु आन्तरभी अनुभाव होतेहैं॥ अब युद्धवीराऽनुभावका उदाहरण—"अग्रे वासवजित" इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं। श्लोकार्थ यह

दयावीरस्याऽनुभावो यथा-

ध्वान्तस्तोमधरे जगद्भयकरे पाथोधरे वर्षति
क्रोडव्याकुलवत्सगोकुलदयादीनेक्षणः केशवः ।
हस्तन्यस्तमहीधरच्युतिभिया नैवांगुलीपल्लवै-
र्वेणुं स्रस्तमुरीकरोति न तनोः स्रस्तं हरत्यंशुकम् ॥ १२ ॥

दानवीरस्यानुभावो यथा-

औदास्यं न विधेहि गच्छ न गृहात्संवीक्ष्य मृद्भाजनं
याचे किन्तु भवन्तमेतदखिलं कौत्स क्षणं क्षम्यताम् ।

है कि राम रावणके युद्धसमयमें कपिदल कहताहै कि सम्पूर्ण जो संग्रामका व्यापार उसकी दीक्षामें गुरु ऐसा जो इन्द्रजित् सो आगे है अर्थात् सेनापति होरहाहै। और उस इन्द्रजित्के समीपमें रावण है । कैसा है रावण कि शत्रुका जो पक्ष उसका जो पराभव अर्थात् खण्डन सो ही है क्रीडा सो ही है धन जिसको ऐसा । इस प्रकार चारों दिशाओंमें परिजन जो वानरसमुदाय सो वोलतसंतें सन्ध्यास्मरणको करतेहुए ऐसे जो रामचन्द्र उनका जो यह कुम्भकके वायुक्रम अर्थात् पहले पूरक प्राणायाम और पीछे कुंभक और पीछे रेचक यह जो क्रम सो विगडा नहीं । यहां रावणालंबनक जो रामका वीर रस उसका चाञ्चल्याभावरूप धैर्य अनुभावक है । दयावीरके अनुभावका उदाहरण कहतेहैं "ध्वान्त" इत्यादि श्लोकसे श्लोकार्थ यह है कि अन्धकारके समुदायको धारनेवाला और जगत्को भय करनेवाला ऐसा जो मेघ सो वरसत सन्ते दोनों भुजाओंके अन्तरमें व्याकुल ऐसे जो वत्स और गोसमूह उनमें जो दया उससे दीन है दृष्टि जिसकी ऐसा जो केशव सो हस्तमें धारित जो गोवर्धन पर्वत उसके पडनेके भयसे पडता हुआ जो वेणु उसको अंगुलिपल्लवोंसे नहीं धारण करताहै और शरीरसे पडता हुआ जो वस्त्र उसकोभी नहीं धारण करताहै । यहां गोकुलालंवन जो केशवका दयावीर रस उसका अनुभाव धैर्य है ॥

अव दानवीराऽनुभावका उदाहरण "औदास्यम्" इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं । श्लोकार्थ यह है कि हे कौत्स! मृत्तिकाके पात्रको देखकरिके उदासताको मत करो । और वरसे मत जावो। यह सव वात आप क्षमा करो अर्थात् इसका विचार मत करो। मैं आपको यही याचना करताहूं कि क्षणमात्र क्षमा करो जो दास गुरुदक्षिणा है तव तो मैं हूं और जो पृथ्वी गुरुदक्षिणा है तो सम्पूर्ण लेलीजिये और जो स्वर्ण गुरुदक्षिणा है तो कुवेरसे लाकर सम्पादन कियाजाताहै। यहां कौत्सालंबनक रघुनिष्ठ दान वीरका वसुमती इत्यादिका जो दान है सो अनुभाव है ॥ अब भयानकके अनुभाव

दासश्चेदहमस्मि चेद्वसुमती सर्वैव संगृह्यतां
स्वर्णं चद्गुरुदक्षिणा धनपतेरानीय सम्पाद्यते ॥ १३ ॥
अथ भयानकस्याऽनुभावाः । तत्र भरतः—
करचरणनेत्रमस्तकसर्वांगानां प्रकम्पनैश्चैव ।
शुष्कोष्ठतालुकण्ठैर्भयानको नित्यमभिनेयः ॥ १४ ॥
रोमाञ्चवदनवैवर्ण्यस्वरभेदादय ऊहनीयाः । यथा—
न्यस्तव्यस्ततृणावलीढवदनव्याकीर्णफेनोच्चयं
काकुव्याकुलघोरघर्घररवं स्फारीभवल्लोचनम् ।
कम्पप्रस्खलदंघ्रिवामनतनुश्वासोर्मिनुन्नाधरं
विस्तीर्णे भुजगस्य वक्रकुहरे कृष्णस्य गावः स्थिताः १५॥
अथ बीभत्साऽनुभावाः । तत्र भरतः—
आननेत्रविघूर्णननासास्यच्छादनैश्चैव ।

कहतेहैं । तहां भरतसम्मति दिखाते हैं "करचरण" इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि हस्त, पद, नेत्र, मस्तक यह हैं प्रधान जिनमें ऐसे जो संपूर्ण अंग उनके प्रकम्पनोंसे और ओष्ठ, तालु, कण्ठ इनके शोषणकरिके भयानकरस नित्य अभिनय करने योग्य है । और रोमाञ्च, मुखकी विवर्णता, स्वरका भेद इत्यादिका भी ऊह करलेना । इसका उदाहरण "न्यस्तव्यस्त" इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं । श्लोकार्थ यह है कि कृष्णके गौ जे हैं ते विस्तारयुक्त जो व्यालराक्षसका वक्रकुहर अर्थात् मुखबिल उसमें स्थित होगये । किस प्रकार, सो कहते हैं कि न्यस्त कहिये गलित और व्यस्त कहिये खण्डित ऐसे जो तृण तिनकरिके युक्त जो मुख उसमें व्याकीर्ण कहिये व्याप्त है फेनसमूह जिसक्रियामें जैसे होय तैसे । और काकु जो स्वरविशेष उससे व्याकुल अर्थात् व्याप्त और घोर और घर्घरानुकरणयुक्त है शब्द जिसक्रियामें जैसे होय तैसे, और विस्तारयुक्त है लोचन जिस क्रियामें जैसे होय तैसे और कंपकरिके गिरताहुआ है चरण जिस क्रियामें जैसे होय तैसे और वामन है तनु जिस क्रियामें जैसे होय तैसे और श्वासकी जो परंपरा ताकरिके कंपायमान है अधर जिस क्रियामें जैसे होय तैसे । यहां व्यालराक्षसालम्बनक गोनिष्ठ जो भय उसका कम्पादिक अनुभाव है ॥

अब बीभत्स रसके अनुभाव कहते हैं । तहां भरतसम्मति दिखाते हैं "आननेत्रविघूर्णन" इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि मुखका और नेत्रका जो घुमाना और नासिका और मुखका आच्छादन इनसे और अव्यक्त

अव्यक्तपादपतनैर्बीभत्सः सम्यगभिनेयः ॥ १६ ॥
सर्वांगसंहारष्ठीवनादय ऊहनीयाः । यथा-
कपटहरेर्मुखकुहरे विकृते संवीक्ष्य दिनकरं लक्ष्मीः ।
हतदैत्यपललकवलभ्रान्त्या मुखमंशुकैः पिदधे ॥ १७ ॥
अथाद्भुतरसाऽनुभावाः । तत्र भरतः-
करस्पर्शग्रहणोल्लासैर्हाहाकारैश्च साधुवादैश्च ।
वेपथुगद्गदवचनैः स्वरभेदैरभिनयस्तस्य ॥ १८ ॥
निर्निमेषप्रेक्षणरोमाञ्चादय ऊहनीयाः । यथा-
पाण्डवं वीक्ष्य दोर्दण्डखण्डितारातिमण्डलम् ।
अद्याऽपि नाकिनां नेत्रे निमेषा नैव जाग्रति ॥ १९ ॥
इति श्रीभानु० रसतरंगिण्यामनुभावनिरूपणं नाम तृतीयस्तरंगः ॥ ३ ॥

पादपतन अर्थात् स्तंभनसे बीभत्स रस सम्यक् अभिनेय है अर्थात् जाननेयोग्य है । संपूर्ण अंगका समेटना और थूकना इत्यादिका भी ऊह करलेना । इसका उदाहरण "कपटहरेः" इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं । श्लोकार्थ यह है कि लक्ष्मी जो है सो मायावी श्रीकृष्णके मुखच्छिद्रमें सूर्यको देखकरिके मराहुआ जो दैत्य उसके मांसके ग्रासकी भ्रान्तिसे वस्त्रोंसे मुखको आच्छादित करतीभई । यहां लक्ष्मीनिष्ठ हत-दैत्यमांसालंबनक जो बीभत्स उसका अनुभाव मुखका ढकना है । अब अद्भुत रसके अनुभाव कहते हैं, तहां भरतसम्मति दिखाते हैं-"करस्पर्श-ग्रहण" इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि स्पर्श करिके और ग्रहण करिके और उसका अर्थात् हर्षजनित चित्तविकास करिके और आश्चर्यसूचक हाहाकार शब्दोंसे और साधुवादोंसे और वेपथु अर्थात् कंपकरिके और गद्गदवचन करिके और उदात्तादिस्वरभेदोंकरिके अद्भुतरसको जानना। और निमेषरहित होकर झांकना, रोमाञ्च इत्यादिका भी ऊह करलेना । इसका उदाहरण "पाण्डवं वीक्ष्य" इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं । श्लोकार्थ यह है कि कृष्णके प्रति सात्यकि कहताहै कि बाहुदण्डसे खण्डित कियाहै शत्रुमण्डल जिसने ऐसा जो पाण्डव अर्जुन उसको देखकरिके देवताओंके नेत्रोंमें अब भी निमेष नहीं जागते हैं, इसका अभिप्राय यह है कि दृढ जो निर्निमेषप्रेक्षण उसके अभ्यास करिके अब भी निमेष नहीं उत्पन्न होते हैं। यहां पाण्डवालंबनक देवतानिष्ठ अद्भुत रसको निर्निमेषप्रेक्षण अनुभाव है सो जानना॥

इति श्रीरसतरङ्गिणीभाषाटीकायामनुभावनिरूपणं नाम तृतीयस्तरङ्गः ॥ ३ ॥

चतुर्थस्तरंगः ४.

अथ सात्त्विकभावा निरूप्यन्ते । तत्र भरतः-
स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभेदोऽथ वेपथुः ॥
वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मताः ॥ १ ॥

नन्वस्य सात्त्विकत्वं कथम्, व्यभिचारित्वं न कुतः, सकलरससाधारण्यादिति चेत् । अत्रकेचित्, सत्त्वं नाम परगतदुःखभावनायामत्यन्ताऽनुकूलत्वम्,तेन सत्त्वेन धृताः सात्त्विका इति व्यभिचारित्वमनादृत्य सात्त्विकव्यपदेश इति।तन्न, निर्वेदस्मृतिप्रभृतीनामपि सात्त्विकव्यपदेशापत्तेः । न च परदुःखभावनायामष्टावेते समुत्पद्यन्त इत्यनुकूल-शब्दार्थः । अत एव सात्त्विकत्वमप्येतेषामिति वाच्यम् । निर्वेदादेरपि परदुःखभावनायामप्युत्पत्तेरिति ।

अब अवसरसंगति करिके शारीरभावनिरूपणकी प्रतिज्ञा करतेहैं । "अथ" इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि अनुभावनिरूपणानन्तर सात्त्विक भाव निरूपण करतेहैं । यहां सात्त्विकभावशब्दका यौगिक अर्थ ऐसा नहीं है जो आपत्ति न लगे और रूढ्यर्थका निर्धारण है नहीं इस हेतु सात्त्विक भावोंका नाम कहतेहैं "तत्र भरतः" इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि स्तम्भादिक आठ सात्त्विक भाव हैं । यहां यह शंका हुई कि इन आठ भावोंको सात्त्विकत्व किस प्रकार कहतेहो । यह कहनेका यह अभिप्राय है कि सत्त्व जीवका नाम है उसके आश्रित जो होय सो ही सात्त्विक कहाताहै, इसहीसे इसमें सात्त्विकव्यवहार करतेहो । सो यह कहना युक्त नहीं । क्योंकि व्यभिचारिभावको भी जीवाश्रितत्व है । वह भी सात्त्विक कहावैगा सो अभिमत नहीं है । फिर यही आठ क्यों सात्त्विक कहाते हैं इसका हेतु कहो । और विचार करो तो इन आठोंहीके । व्यभि-चारिभावका जो लक्षण है सकलरसगामित्व सो है, तो इनको व्यभिचारिभाव कहना चाहिये सात्त्विक नहीं कहना चाहिये । इसका समाधान कोई इस प्रकार करते हैं कि सत्त्वशब्दार्थ यह है परको जो दुःख उसके विचारमें अत्यन्त अनुकू-

अत्रेदं प्रतिभाति–सत्त्वशब्दस्य प्राणिवाचकत्वादत्र सत्त्वं जीवशरीरम्। तस्य धर्माः सात्त्विकाः। इत्थं च शारीरभावाः स्तम्भादयः सात्त्विका भावा इत्यभिधीयन्ते। स्थायिनो व्यभिचारिणश्च भावा आन्तरतया न शरीरधर्मा इति॥

शरीरधर्मत्वे सति गतिनिरोधः स्तम्भः। न च निद्राड-

लता उस सत्व कारिके जो धृत हैं वे सात्विक कहाते हैं। यह जो अनुकूलता रूप सत्व है सो आठहीमें है इस हेतु इन आठहीमें सात्विकपद प्रयोग होगा। व्यभिचारिभावमें यह अनुकूलता नहीं है इस हेतु वहां सात्विकपद प्रयोग नहीं होगा। यह मत समीचीन नहीं क्योंकि निर्वेदादिमें नहीं रहै आर स्तंभादिमें ही रह ऐसी अनुकूलता माननेमें कुछ प्रमाण नहीं इस हेतु निर्वेदादिमें भी ऐसी अनुकूलता रहेगी। यह कहनेका यह अभिप्राय है कि परगतदुःखभावनामें अनुकूलतावस्तु उत्पत्तिरूपही होगी। सो उत्पत्ति निर्वेदादिमें भी है ही तो निर्वेदादिको भी सात्विक कहना चाहिये। यहां किसीको ऐसा वैमत्य है कि परगतदुःखभावनामें इन आठहीकी उत्पत्ति होती है इस हेतु ये आठही सात्विक कहावेंगे। यह वैमत्य युक्त नहीं क्योंकि निर्वेदादिकी भी परदुःखके विचारमें उत्पत्ति होती है तो उनमें भी सात्विकत्वव्यवहार होना चाहिये सो जानना॥ अब समाधान "अत्रेदम्" इत्यादि ग्रन्थसे करते हैं। इस ग्रन्थका यह अभिप्राय है कि हमको यहां यह दीखताहै कि सत्वशब्द प्राणिवाचक है इस हेतु यहां सत्वशब्द जीवयुक्त शरीरका नाम है उसके धर्मको सात्विक कहतेहैं। ऐसा हुआ तो शारीरभाव जो स्तंभादि सो सात्विकभाव कहातेहैं। तो सात्विकभावका यह लक्षण फलित हुआ कि शारीरत्व होतसन्तैं स्थायिभावप्रकारक आरोपविषयीभूत भावत्व। यहां विशेषण जो है शारीरत्व सो न दें तो व्यभिचारिभाव और स्थायिभाव ये दोनों भाव हैं तो ये भी सात्विकभाव कहे जायंगे। और व्यभिचारिभावमें विचार करनेसे स्थायिभावप्रकारकआरोपविशेष्य जो भाव तादृशभावत्व है तो अतिव्याप्ति होगी इस हेतु 'शारीरत्वे सति' यह विशेषण दिया। तो व्यभिचारिभाव वा स्थायिभावको शारीरत्व नहीं है इस हेतु सात्विकभावलक्षणकी अतिव्याप्ति नहीं होगी सो जानना॥

अब सात्विकभावोंका सामान्यलक्षण कहकर स्तंभका लक्षण कहते हैं "शरीरधर्मत्वे सति" इत्यादिग्रन्थसे। इसका यह अर्थ है कि शरीरधर्मत्व होतसन्तैं गति-

ऽपस्मारादावतिव्याप्तिः,शरीरधर्मपदेन व्यावर्तनात् । प्रलयभाने तु चेष्टानिरोधो न तु गतिनिरोधः । तस्य विभावा हर्षरागभयदुःखविषादविस्मयक्रोधाः । यथा—

श्रोणी पीनतरा तनुः कृशतरा भूमीधरात्पीवरा
वक्षोजस्य तटी कुतो निजकुटी मातर्मया गम्यताम् ।
इत्युद्भाव्य कदम्बकुञ्जनिकटे निर्विश्य मन्दस्मितं
गोविन्दं समुदीक्ष्य पक्ष्मलदृशा स्तम्भस्तिरोधीयते ॥ २ ॥

सामान्यका जो निरोध अर्थात् रुकना जो है सो स्तंभ है।यहां शारीरत्व विशेषण न दें तो निद्रा और अपस्मार यहां अतिव्याप्ति होगी क्योंकि इस अवस्थामें भी गतिसामान्यका निरोध रहताहै इस हेतु शारीरत्वविशेषण दिया।सामान्यपद न दें तो प्रलयभावमें अतिव्याप्ति होगी क्योंकि प्रलय भावको शारीरत्व है उस अवस्थामें चेष्टारूप गतिका निरोध भी रहताहै इस हेतु सामान्य पद दिया । अब प्रलयभावमें अतिव्याप्ति नहीं होती है, क्योंकि इस अवस्थामें चेष्टाका निरोध है तो भी गतिका निरोध नहीं है इससे गतिसामान्यनिरोध वहां नहीं रहा सो जानना । इस स्तंभके विभाव अर्थात् उत्पादक हर्षादि हैं। इसका उदाहरण "श्रोणी" इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं । श्लोकार्थ यह है कि सखीके प्रति सखीका वाक्य है कि हे माता ! मेरा जो कटिपश्चाद्भाग अर्थात् नितंब सो पुष्टतर है । और शरीर जो है सो अत्यन्त कृश है । और स्तनतट जो है सो पर्वतसे भी पुष्ट है। इस हेतु मैंने अपना गृह किस प्रकार जाया जायगा अर्थात् मैं किस प्रकार जाऊं, भारसे चलनेमें समर्थ नहीं हूं । यह कहकरिके कदंबसंबन्धी कुञ्जके समीपमें विश्राम लेकरिकै मन्द है स्मित जिस क्रियामें जैसे होय तैसे कृष्णको देखकरिकै अर्थात् कटाक्षसहित निरीक्षण करिकै रमणीय जो पक्ष्म (वाँफणी) तत्संबन्धिनी है दृष्टि जिसकी ऐसी नायिकासे उत्पन्न हुआ जो स्तंभ सो तिरोहित किया गया । यहां 'मातः' यह जो सखीके प्रति सम्बोधन है सो साऽनुकम्पा उक्ति है, यह उक्ति अप्रतारणाकी व्यञ्जक है सो जानना और वक्षोजस्यमें जो एक वचन दिया उससे स्तनके भेद ज्ञानमें प्रतिबन्धक जो अत्यन्त संश्लेष सो व्यञ्जित हुआ । यहां कृष्णदर्शनसे जो स्तम्भ उसका कारण हर्षरागादि हैं, सो जानना ।

वपुषि सलिलोद्गमः स्वेदः । अस्य विभावा मनस्तापहर्षल-
ज्जाक्रोधभयश्रमपीडाघातमूर्च्छाः । यथा-
कान्ते तव कुचप्रान्ते राजन्ते स्वेदबिन्दवः ।
हृष्यता मदनेनेव कृताः कुसुमवृष्टयः ॥ ३ ॥
विकारसमुत्थरोमोत्थानं रोमाञ्चः । अस्य विभावाः शी-
तालिंगनहर्षभयक्रोधाः । यथा-
वकुलमुकुलकोषरोषनिर्यन्मधुकरकूजितभाजि कुञ्जभूमौ ।
पुलकयति कपोलपालिमालि ! स्मितसुभगः कथमद्य
नन्दसूनुः ॥ ४ ॥

अब स्वेदका लक्षण कहतेहैं " वपुषि " इत्यादि वाक्यसे वाक्यार्थ यह है कि शरीरमें जो जलका प्रादुर्भाव उसको स्वेद कहतेहैं । नारिकेलमें भी जल होताहै वह जल स्वेद नहीं है । यह अतिव्याप्तिवारणार्थ वपुषि यह विशेषण दिया । यहां शरीर करिके नेत्रभिन्न शरीरका अवयव समझना इस हेतु अश्रुपातमें अतिव्याप्ति नहीं होगी । ऐसा कहनेपरभी श्रमजनित स्वेदमें सात्त्विक व्यवहार नहीं होताहै सो होजायगा । इस हेतु वह स्वेद विकारसम्भूत समझना चाहिये । इस हेतु उद्गम यहां उत् यह उपसर्गपद दिया। अभिप्राय यह है कि परस्पराऽनुरागातिशय होतसन्तें जो शरीरमें सलिलोद्गम सो स्वेद है, सो जानना । इसके विभाव मनका सन्तापादि जानना, आघातसे ताडना समझना । इसका उदाहरण-" कान्ते तव " इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि नायिकाके प्रति नायकका वचन है हे प्रिये ! स्वेदबिन्दु तेरे कुचसमीपमें शोभित होतेहैं और यहां उत्प्रेक्षा करतेहैं कि अघटितघटनासे उत्पन्न सन्तोषयुक्त कामदेवने मानो पुष्पवृष्टि की है यहां स्वेदरूप सात्त्विकभावका विभाव हर्ष है ॥ अब रोमाञ्चका लक्षण कहते हैं " विकारसमुत्थ " इत्यादिवाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि विकारसे उत्पन्न जो रोमोत्थान सो रोमाञ्च है । शीतसे उत्पन्न रोमोत्थानमें सात्त्विकपदव्यवहार नहीं होताहै सो होजायगा इससे विकारसमुत्थ पद दिया । इसके विभाव शीतादि हैं कि, इसका उदाहरण-"वकुलमुकुल" इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं । श्लोकार्थ यह है, नायिकाके प्रति सखीका वचन है कि हेसखि ! वकुलवृक्षका जो पुष्प उसके कोष अर्थात् मध्यसे रोष करिके बाहर निकलते हुए जो भ्रमर उनका जो शब्द उससे युक्त ऐसी जो कुञ्जभूमि उसमें मन्द हास करिकै सुन्दर जो यह कृष्ण सो

गद्गदत्वप्रयोजकीभूतस्वरस्वभाववैजात्यं स्वरभंगः । अ-
स्य विभावाः क्रोधभयहर्षमदाः । यथा-
व्यक्तिः स्यात्स्वरभेदस्य कोपादुक्तिः क्रियेत चेत् ।
इति पत्युः पुरो राधा मौनमाधाय तिष्ठति ॥ ९ ॥
भावत्वे सति शरीरनिस्पन्दो वेपथुः । भावत्वे सतीति विशेषणदानात् सूचकस्पन्दादौ नाऽतिव्याप्तिः । शरीरपदं चेष्टाश्रयमात्रपरम्, तेन शरीरावयवकम्पे नाऽव्याप्तिः ॥

कपोलसमीपभागको आज कैसे रोमाञ्चयुक्त करताहै यह कहनेका अभिप्राय यह है कि तेरा सौन्दर्यसारावलोकन करिके कृष्णके सात्त्विकभावीय रोमोद्गम हुआ । यहां सात्त्विकभावरूप जो रोमाञ्च उसका विभाव हर्ष है ॥

अब स्वरभंगका लक्षण करतेहैं । " गद्गदत्वे " इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि गद्गदताका प्रयोजक जो स्वरस्वभावका विलक्षणत्व सोही स्वरभंग है । अनुकरणमें भी स्वरस्वभाववैलक्षण्य है तहां अतिव्याप्तिवारणार्थ गद्गदत्वप्रयोजकी-भूत यह विशेषण दिया । इसके विभाव क्रोधादिक हैं इसका उदाहरण-"व्यक्तिः स्यात" इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं । श्लोकार्थ यह है कि सखीके प्रति सखी कहतीहै कि यदि कोप करिके मुझसे किञ्चित् उक्ति कीजावे अर्थात् कोपसे मैं कुछ कहूँ तो स्वरभंगकी अभिव्यक्ति अर्थात् प्रकाश होजायगा और उसका प्रकाश होनेसे कोपका प्रकाश होजायगा सो मत हो इस हेतुसे पतिके आगे राधा जो है सो मौनका आलम्बन करिके स्थित है । यहां सात्त्विकभाव जो स्वरभंग उसका विभाव क्रोध है । अब वेपथुका लक्षण कहतेह । "भावत्वे सति" इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि भावत्व होतसन्तै जो शरीरकी क्रिया सो वेपथु है । यहां सत्यन्त विशेषण न दें तो शकुनसूचक जो नेत्रादिकी क्रिया उसमें अतिव्याप्ति होगी इस हेतु सत्यन्त दिया । तो शकुनसूचक क्रियामें भावत्व नहीं है इस हेतु अतिव्याप्ति नहीं हुई क्योंकि वह सूचक चेष्टा रसाऽनुकूल नहीं है सो जानना । यहां शरीरपद चेष्टाश्रयमात्र पर है । मात्रपद देनेसे शरीर और शरीरावयव दोनोंका ग्रहण होताहै । जो शरीर पद अन्त्यावयविमात्रपर कहो अर्थात् सकलशरीरार्थक कहो तो शरीरावयवकंप भी वेपथु कहाताहै तहां अव्याप्ति होगी, क्योंकि शरीरावयवका जो कंप है सो शरीरका कंप नहीं है, इस हेतु शरीरपद चेष्टाश्रयमात्रपर कहना । ऐसा हुआ तो शरीरावयवकंप भी शरीरकंप कहावैगा इस हेतु अव्याप्ति नहीं होगी ।

अस्य विभावा आलिंगनहर्षभीत्यादयः । यथा-
कथय कथमुरोजदामहेतोर्यदुपतिरेष चिनोतु चम्पकानि ।
भवति करतले यदस्य कम्पः प्रियसखि ! मत्स्मृतिरेव मत्सपत्नी ॥ ६ ॥

कोई पुस्तकमें 'शरीरावयवकंपे नाऽतिव्याप्तिः' ऐसा पाठ है उसके अनुसार वेपथुके लक्षणमें शरीर पद अन्त्यावयविपर है । इस पक्षमें सत्यन्त विशेषण नहीं दें तो अन्यथाआभासका हेतु और परप्रयोज्य जो आपका उत्क्षेपण वा अपक्षेपणरूप अवयविकर्म सोही हुआ सूचकस्पन्द वह भी शरीरकर्म है तो वहां अतिव्याप्ति होगी । इस हेतु भावत्वे सति यह विशेषण दिया । ऐसा हुआ तो मनोविकारजन्यत्वप्रयुक्त जो भावत्व सो वहां नहीं है । इस हेतु अतिव्याप्ति नहीं होगी । इस पक्षमें शरीरशब्दका जो चेष्टाश्रय अर्थ किया तहां भी चेष्टाश्रय इसका चेष्टाश्रय अन्त्यावयवी यह अर्थ जानना । ऐसा कहनेसे शरीरावयवकंपमें अर्थात् हास्यभूत अधरस्पन्दमें अतिव्याप्ति नहीं होगी क्योंकि यह अधरस्पन्द विकारसंभूत है तो भी शरीररूप जो अवयवी उसकी क्रिया नहीं है। प्रथम पक्षमें जो 'अतिव्याप्तिः' ऐसाही पाठ होय तो उसकी इस प्रकार व्याख्या करनी चाहिये कि 'नातिव्याप्तिः' यह जो पाठ है तहां प्रकृत लक्षणका ऐसा आदिमें समझ लेना और अतिशब्दका अर्थ अतिक्रान्त है । व्याप्ति शब्दका अर्थ संबन्ध है तो यह अर्थ हुआ कि प्रकृत लक्षणकी व्याप्ति अर्थात् संबन्ध अतिक्रान्त है अर्थात् शरीरावयवकंपमें नहीं रहै है। यह अतिव्याप्तिशब्दका अर्थ हुआ तो अतिव्याप्तिशब्दसे अव्याप्ति व पर्यवसन्न हुई। इस रीतिसे 'नातिव्याप्तिः' इस शब्दका यह अर्थ हुआ कि अव्याप्ति नहीं हुई तो प्रथमपक्षाऽनुसार होगया सो जानना । इसके विभाव आलिंगनादिक हैं । इसका उदाहरण-"**कथय कथम्**" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि हे प्रियसखि ! अर्थात् सुखदुःख कहनेका स्थानभूत ! यह अर्थात् अधिकता करिकै सदा निकटवर्ती जो यदुपति अर्थात् कृष्ण हैं सो चंपक पुष्पोंको कुचोंके हारके अर्थ अर्थात् कुचोंकी सुन्दरतासाधन मालाके अर्थ किस प्रकार संग्रह करो यह कहा, यह कहनेसे श्रीकृष्णमें अपने अनुरागको आगे करिके अपनी स्मृतिमें सौतिकार्यकारित्व दृढकरती हुई कविनिबद्धवक्त्री कृष्णविषयकानुरागातिशयका कथन करती है कि जिस कारणसे कृष्णके करतलमें कंप होताहै तिस कारणसे मैं यह जानतीहूं कि मेरी जो स्मृति है अर्थात् मेरे सदृश चंपकपुष्पोंको देखकारिकै मेरी याद है सोही मेरी सपत्नी है और नहीं है । सपत्नी है इसका अथ यह है कि मेरे

विकारप्रभवप्रकृतवर्णान्यथाभावो वैवर्ण्यम्। अस्य विभावा मोहभयक्रोधशीततापश्रमाः। यथा—
कुक्कुटे कुर्वति क्वाणमाननं श्लिष्टयोस्तयोः।
दिवाकरकराक्रान्तशशिकान्तिमिवादधौ ॥ ७ ॥
विकारजनितमक्षिसलिलमश्रु। अस्य विभावा हर्षामर्षधूमभयशोकजृंभाशीतनिर्निमेषप्रेक्षणानि ॥ यथा—
विसृजविसृज चित्त दुःखधारामयमुपकण्ठमुपागतो मुरारिः।
इति कथयितुमश्रुबिन्दुरक्ष्णोर्निपतति वक्षसि पक्ष्मलायताक्ष्याः ॥

इच्छितमें विघ्न करनेवाली है। यहां करतलमें जो कंप कहा सो करतलहीको पुष्पसंग्रहसाधनता है इस हेतु उसही को कंप दिखाया। यह दिखानेसे सपूर्ण शरीरका कंप सिद्ध नहीं हुआ। इस हेतु दोनों पक्षोंमें उदाहरणता इस श्लोकको होगई। यहां कृष्णनिष्ठ जो वेपथु उसका विभाव हर्ष है सो जानना ॥

अब वैवर्ण्यका लक्षण कहते हैं। "विकारप्रभवे" इत्यादि वाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि विकारसे उत्पन्न जो प्रकृत वर्णका अन्यथाभाव अर्थात् वर्ण बदल जाना सो वैवर्ण्य है। जरावस्था वा आतप एतत्कृत जो वैवर्ण्य है तहां अतिव्याप्तिके वारणके अर्थ विकारप्रभव यह विशेषण दिया इसका विभाव मोहभयादिक है इसका उदाहरण "कुक्कुट" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि रसभरकरिकै प्रभात समयका ज्ञान नहीं हुआ है जिनको ऐसे जो सम्यक्प्रकार आलिंगनासक्त स्त्री पुरुष उनका जो मुख है उसके कुक्कुट जो है सो प्रभातकालिक अव्यक्त शब्द करतसन्तैं सूर्य किरणोंसे तिरस्कृत जो चन्द्रमा उसकी कान्तिको धारण करताभया। मानो यह उत्प्रेक्षा है। अभिप्राय यह है कि नायकनायिकाओंकी उत्कण्ठापूर्ति नहीं होनेसे दोनोंका बल हीन होगया। यहां स्त्री पुरुषको जो वैवर्ण्य है उसका विभाव सन्ताप है ॥

अब अश्रुका लक्षण कहतेहैं "विकारजनित" इत्यादि वाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि विकारसे उत्पन्न जो नेत्रजल सो अश्रु है। धूम करिकै उत्पन्न जो अश्रु है उसमें अतिव्याप्ति मत हो इस हेतु विकारजनित यह पद दिया। इसके विभाव हर्ष, क्रोध, धूम, भय, शोक, उकासी, शीत, विना निमेष झांकना ये हैं। इसका उदाहरण "विसृज" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि हे चित्त ! दुःखका जो प्रवाह उसको त्यागकर यह जो मुरारि है सो समीपमें प्राप्त होग-

शारीरत्वे सति चेष्टानिरोधः प्रलयः । शारीरत्वे सतीति विशेषणान्निद्रादौ नातिव्याप्तिः । स्तम्भादयः शरीरधर्मास्तेषां साहचर्यकथनेन प्रलयोऽपि शरीरधर्म एव ॥ तेनाऽत्र चेष्टापदेन शरीरचेष्टैवाऽभिमता । मनसस्तु कर्म भवति, न तु चेष्टा । अत एव चेष्टाश्रयः शरीरमिति शास्त्रीयं लक्षणम् । अस्य विभावा रागौत्कण्ठ्यादयः । यथा—

याहैं यह कहनेके अर्थ ही मानो सुन्दरपक्ष्मयुक्त और दीर्घ ऐसे हैं नेत्र जिसके ऐसी जो स्त्री उसके नेत्रद्वयका जो अश्रुजल है सो वक्षःस्थलमें पड़ताहै । यहां कामिनीनिष्ठ जो अश्रु उसका विभाव हर्ष है ॥

अब प्रलयका लक्षण कहते हैं "**शारीरत्वे सति**" इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि शरीरधर्म होत सन्ते जो चेष्टानिरोध अर्थात् चेष्टाकी अनुत्पत्तिका प्रयोजक वस्तु सो प्रलय है । इस ही प्रलयको करना पाटव और शैथिल्य इन दोनों शब्दोंसे भी कहतेहैं । यहां सत्यन्त न कहैं तो निद्रामें अतिव्याप्ति होगी क्योंकि निद्रा भी चेष्टानिरोधरूप है इस हेतु सत्यन्त पद दिया । तब निद्रामें अतिव्याप्ति नहीं होती है क्योंकि निद्रा आन्तर धर्म है, शरीरधर्म नहीं है सो जानना ॥ अब यहां यह शंका होती है कि चेष्टा और क्रिया दोनोंके निरोधको जनानेवाला जो प्रलय पद है उस प्रलयपदका यत्किञ्चित् चेष्टानिरोध अर्थ कहोगे तो स्तंभमें भी यत्किञ्चित् चेष्टाका निरोध होताही है तो वहभी प्रलय कहावेगा । इस हेतु चेष्टासामान्यनिरोधको प्रलय कहो । ऐसा कहोगे तो प्रलयलक्षणमें असंभव होजायगा क्योंकि वक्ष्यमाण उदाहरणमें मनःक्रियाकी उत्पत्ति कही है इसलिये चेष्टासामान्यनिरोध नहीं रहा । इस शंकाका समाधान यह है कि स्तंभादिक शरीरधर्म हैं उनका साहचर्य प्रलयमें भी कहाहै इससे प्रलयभी शरीरधर्म ही है । यह कहनेसे मनःक्रियानिरोधक जो मनोधर्म है सो प्रलय नहीं समझना क्योंकि वह धर्म शारीर नहीं है । जो प्रलय शरीरधर्म है, यह विवक्षित हुआ तो यहां चेष्टा पदसे शरीरचेष्टा ही अर्थात् हिताहितप्राप्तिपरिहारार्थ क्रिया हा अभिमत है उस ही क्रियाको निरोध प्रलय है सो जानना चाहिये । ऐसा हुआ तो पूर्व जो स्तंभमें अतिव्याप्ति दोष कहा था वह नहीं रहा । क्योंकि स्तंभमें यद्यपि यत्किञ्चित् क्रियाका निरोध है तो भी चेष्टासामान्यनिरोध नहीं है सो जानना । और प्रकृत उदाहरणमें जो

नो वक्त्रं नमितं धुतं न च शिरो व्यावर्तितं नो वपु-
र्वासो न श्लथमाहृतं निगदितं नो वा निषेधाक्षरम्।
शोणं नाऽपि विलोचनं विरचितं क्रीडाकलाकातरं
चेतः केवलमानने मधुरिपोर्व्यापारितं राधया॥ ९॥

असंभव दोष कहा वह भी अब नहीं होताहै। क्योंकि वहां मनःक्रियाकी उत्पत्ति कहाहै तो भी वह क्रिया शारीरचेष्टा नहीं है इस हेतु शारीरचेष्टानिरोध वहां रहेगा, इस हेतु असंभव नहीं होगा सो जानना। कदाचित् कहो कि चेष्टाशब्द तो क्रियामात्रार्थक है तब हिताहितप्राप्तिपरिहारार्था क्रिया उसका अर्थ करोगे तो निहतार्थता दोष होगा। यह शंका नहीं कहनी चाहिये, क्योंकि शास्त्रमें जहां शरीरलक्षण है तहां चेष्टाश्रय शरीर है यह कहाहै। यह लक्षण शरीरका तबही युक्त होगा कि हिता-हितेत्यादि अर्थ चेष्टाका कहोगे। सामान्यतः क्रियाश्रय कहोगे तो घटपटादिमें भी क्रिया होतीहै तो घट पट भी शरीर कहावेंगे इस हेतु उक्तही अर्थ चेष्टाशब्दका है तो निहतार्थ दोष नहीं होसकताहै सो जानना। 'स्तंभादयः शरीरधर्माः' यहांसे आरंभ करिके 'शास्त्रीयं लक्षणं' यहां पर्यन्तकी व्याख्या यह जाननी। इसके विभाव अनुराग और उत्कण्ठा इत्यादि हैं सो जानना। इसका उदाहरण "नो वक्त्रं नमितम्" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि मानके आधिक्यसे अधिक कियागया जो विप्रलंभ उससे मिलित जो दुःसह ज्वर उससे खिन्न ऐसी और शठताज्ञानकरिके एकत्रीकृत जो रोषप्रकर्ष उसके आग्रहसे युक्त ऐसी भी होकरिके अवितर्कित जो तत्कालप्राप्त दुर्घट समागम उससे संजात उत्कण्ठाभरसे चञ्चल अन्तःकरण है जिसका ऐसी नायिकाने (कान्तमुखाऽनवलोकनस्पृहाके संबन्धसे युक्त है तो भी) मुखको नम्र नहीं किया और (नायकने जब चिबु-कग्रहण किया तब निषेध करनेके अर्थ) मस्तक नहीं कँपाया। और (नाय-कने अत्यन्त आश्लेष किया तब) शरीर उलटा नहीं किया। और पतित वस्त्र ऊपर धारण नहीं किया। और (नायकने वस्त्रका स्पर्श किया तब) निषेधाक्षर नहीं कहा। और नेत्र भी रक्त नहीं किया (क्योंकि जो दुःख भोक्तव्य है सो तो भुक्त होगया अब इसके आगे रोषसे क्या प्रयोजन यह मान करिके) किन्तु क्रीडाविशेषमें दुःखी जो अन्तःकरण सोही मधुरिपु जो कृष्ण अर्थात् दुःखप्रहरण-शील उनके मुखमें दीनतारूप व्यापारसे युक्त किया। अभिप्राय यह है कि संपूर्ण शरीरचेष्टाका निरोध होगया। एक मनमें ही दीनतारूप व्यापार हुआ तो प्रलय-लक्षणसमन्वय सुकरही है विभाव उसका उत्कण्ठा है सो जानना॥

जृम्भा च नवमः सात्त्विको भाव इति प्रतिभाति ।

अब यहां यह विचार करते हैं कि जृंभाको भी रसाऽनुकूलता है और विकाररूपता है इस हेतु नवम सात्त्विक भाव कहना युक्त है। यहां यह शंका होती है कि लज्जासे उत्पन्न जो अङ्गसंकोच उसको भी सात्त्विकभाव कहना चाहिये। इसका समाधान यह है कि लज्जा आदिका नहीं व्यञ्जित करनेवाला जो अंगसंकोच है सो रसाऽननुगुण है और प्रागुक्तविकारत्व भी उसमें बाधित है इससे वह सात्त्विक भाव नहीं है। फिर यह शंका हुई कि जृंभाभी स्वतः सुन्दर नहीं है तो उसको भी सात्त्विक भाव नहीं कहना चाहिये। इसका समाधान यह है कि प्रामाणिक पुरुषने जृम्भाको सात्त्विकभाव कहाहै। यद्यपि पवनसे उत्पन्न जृम्भाको सात्त्विक भावत्व नहीं भी है तो भी विकारसम्भूत जृम्भाको सात्त्विकभावत्व है ही। जिस प्रकार धूमसंभूत अश्रुको सात्त्विकभावत्व नहीं भी है तो भी विकारसंभूत अश्रुको सात्त्विकभावत्व हैही इसही अभिप्रायसे "जृम्भा च" इत्यादि वाक्य कहते हैं। वाक्यार्थ यह है कि जृंभाभी नवम सात्त्विकभाव है यह दीखता है। यहां जृंभाशब्दका अर्थ वायुपरिपोष जानना। यहां यह शंका होती है कि जिस युक्तिसे जृंभाको सात्त्विकभाव कहतेहो उस युक्तिसे ही निःश्वास भी दशम सात्त्विक भाव कहना उचित है। इसका समाधान यह है कि मुखसे आविर्भूत जो वायुपरिपोष सो तो जृम्भा है और नासिकासे आविर्भूत जो वायुपरिपोष सो निःश्वास है। ऐसा हुआ तो जृम्भाका उपादान करिके जो सात्त्विकभावका विभाग करे तब तो निःश्वासको दशम सात्त्विक भाव कहना युक्त ही है। और यदि वायुपरिपोषका उपादान करिके विभाग करे तब नव ही भेद होंगे, क्योंकि वायुपरिपोषसे जृम्भा और निःश्वास दोनोंका संग्रह होजायगा इससे नवही सात्त्विक भाव कहना योग्य है। इसही हेतु जृम्भा निःश्वासके साधारण्यसे नवम सात्त्विकभावता प्राप्त होनेके अर्थ दोनोंमें प्राप्त जो अनौज्ज्वल्य उसका बोधक जो आलस्यपद उसको "भेदो वाचि दृशोर्जलं कुचतटे स्वेदः प्रकम्पोऽधरे पाण्डुर्गण्डतटी वपुः पुलकितं लीनं मनस्तिष्ठति। आलस्यं नयनश्रियश्श्रवणयोः स्तंभः समुज्जृम्भते तत्किं राजपथे निजामधरणीपालोऽवमालोकितः ॥" इस रसमञ्जरीके श्लोकमें जृम्भाके स्थानमें कहा है जो जृम्भाहीमात्र कहना होता तो 'जृम्भावक्त्रसरोरुहे' ऐसा ही कहते स कहा नहीं इससे वायुपरिपोष कहकरिके दोनोंको ही सात्त्विकता इष्ट है, यह दीखता है। ऐसा हुआ तो इसही युक्तिसे स्वेद अश्रु इन दोनोंको भी सलिलोद्गमशब्दसे कहसकते हैं इस हेतु इन दोनोंका एक ही विभाग होजायगा। यह बात यद्यपि सत्य है तथापि गणना जो है सो पुरुषकी इच्छानुसार होसकती है इस हेतु यह दोष

ऊर्जश्वाननमुल्लसत्कुचयुगं स्विद्यत्कपोलस्थलं
कुञ्चत्पक्ष्म गलद्दुकूलमुदयन्नाभि भ्रमद्भ्रूलतम् ।
बालाग्रांगुलिबद्धबाहुपरिधिन्यञ्चद्विवृत्तत्रिकं
त्रुट्यत्कञ्चुकसन्धिदर्शितलसद्दोर्मूलमुज्जृम्भते ॥ १० ॥

नहीं कहना चाहिये । अब जृम्भा नवम सात्त्विक भाव है इसमें प्राचीनसंमति भी दिखाते हैं "ऊर्जश्वाननम्" इत्यादि श्लोकसे । श्लोकार्थ यह है कि बाला जो है सो उज्जृम्भित होती है अर्थात् उबासी लेरही है । उबासीलेनेका प्रकार क्रियाविशेषणकी रीतिसे कहते हैं । 'ऊर्जश्वाननम्' अर्थात् अधिक श्वासयुक्त है मुख जिस क्रियामें जैसे होय तैसे और अतिशय उच्चताको प्राप्त और प्रकाशमान ऐसा है स्तनद्वय जिस क्रियामें जैसे होय तैसे । और स्वेदजालयुक्त हैं कपोल जिस क्रियामें जैसे होय तैसे (यह कहनेसे जृम्भाको स्वेदनरूप सात्त्विकभावके साथ साहचर्य कहागया) और मिलित है नेत्रपत्र जिस क्रियामें जैसे होय तैसे । और पतित होता है नीवीबन्ध जिस क्रियामें जैसे होय तैसे और ऊपरको गमन करती है नाभि जिस क्रियामें जैसे होय तैसे और भ्रमित होती है भ्रू जिस क्रियामें जैसे होय तैसे और अंगुलीके अग्रभागसे बांधा है बाहुपरिवेष जिस क्रियामें जैसे होय तैसे (परिवेष कहनेसे मुखको चन्द्रत्व ध्वनित किया) और नीचा होताहै पृष्ठवंशका अधोभाग जिस क्रियामें जैसे होय तैसे और टूटी है कंचुकीकी सन्धि जिस क्रियामें जैसे होय तैसे दर्शित अर्थात् कामुकलोचनातिथीकृत और स्वतःप्रकाशयुक्त दोर्मूल अर्थात् कक्षाप्रदेश है जिस क्रियामें जैसे होय तैसे । इस श्लोकमें जृम्भाको सात्त्विकभावके साथ देखते हैं । और शृंगारतिलक ग्रन्थमें भी जृम्भाको सात्त्विकभाव सामानाधिकरण्य देखते हैं । तहां यह श्लोक है कि "सत्यं सन्ति गृहे गृहे प्रणयिनो येषां भुजालिंगनव्यापारोच्छलदच्छमोहनजला

१ सत्यं सन्तीत्यादि श्लोकका अर्थ यह है कि वह जो प्रणयी अर्थात् प्रेमपात्रभूत पुरुष सो घरघरमें है यह बात सत्य है । वह कौन जिन प्रणयीओंके बाहुद्वयकरिकै जो आलिंगनव्यापार उस व्यापारसे उच्छलत् अर्थात् बहुत होकरिकै गमन करता हुआ । और अच्छ अर्थात् स्वभावसुन्दर जो मोहनजल अर्थात् निधुवनसम्बन्धी निस्पन्द वह है जिनको ऐसी स्त्रियां होती हैं । और यह अर्थात् उद्दिष्ट जो कोई प्रिय अर्थात् अनिर्वचनीयलावण्यरूप सो तो अलौकिकही सम्भावनाविषय है । वह प्रिय कैसा है कि यह प्रिय दृष्टिगोचर होत सन्ते ही हमारा शरीर स्वेद और जृम्भा और कंप और साध्वस अर्थात् दुष्प्रापतासंभावनासम्भूत भय इत्यादि समुदाय करिकै कोई अर्थात् अनिर्वचनीय अवस्थाको नियत अर्थात् अवश्य ही प्राप्त होजाता है ॥

इत्यादौ शृङ्गारतिलकादौ च सात्त्विकभावसामानाधिकरण्यदर्शनात् । ननु सा भावाऽनुभाव इति विपरीतमेव किं न स्यादिति वाच्यम्, सत्यनुभावत्वे भावत्वविरोधात् पुलकादीनां तथा दृष्टत्वात् ।

जायन्त एणीदृशः । प्रेयान् कोऽप्यपरोऽयमत्र नियतं दृष्टेऽपि यस्मिन्वपुः स्वेदो जृम्भणकम्पसाध्वसमुखैः प्राप्नोति काञ्चिद्दशाम् ॥ " इस श्लोकमें स्वेद और उज्जृम्भण और कम्प ये तीन कहे हैं तहां कम्प तो वेपथुका पर्याय है और स्वेद और कंप इनके मध्यमें उजृम्भण कहा इससे सात्त्विकभावसम्पुटित जृम्भाका निर्देश यहां है इस हेतु सात्त्विकभावमध्यपतित जो है उसका सात्त्विकभाव ग्रहणसे ग्रहण होताहै ('तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते' इस न्यायसे) ऐसा हुआ तो जृम्भाको सात्त्विकभावता शृंगारतिलककर्ताको भी अभिमत है सो जानना ॥ अब जृम्भाको अनुभावमें अन्तर्भूत करना चाहिये यह शंका "ननु" इत्यादि वाक्यसे कहते हैं । वाक्यार्थ यह है कि यह जृम्भा सात्त्विकभाव है अथवा अनुभाव है इसमें कोई विनिगमक नहीं तो अनुभाव ही इसको मानना । और जहां 'न च सा भावानुभाव' इत्यादि पाठान्तर है तहां यह व्याख्या जाननी कि वह जृंभा सामान्यरीतिसे भावका अनुभाव है अथवा सात्त्विकभावका अनुभाव है । इस प्रकार विपरीत ही क्यों नहीं करते हो? इसका समाधान यह है कि अनुभाव माननेसे भी सात्त्विकभाव माननेमें कोई प्रतिबन्धक नहीं है यही बात 'सत्यम्' इत्यादि वाक्यसे कही है । यहां फिर शंका होती है कि विरुद्ध जो दो वस्तु उनका एक स्थानमें समावेश नहीं होताहै इस हेतु सात्त्विकभावत्व और अनुभावत्व इन दोनोंमेंसे एकका बाध अवश्य कहना होगा । जब भरतवाक्यको प्रमाण मान करिके आठही सात्त्विक भाव मानना, जृम्भाको अनुभाव ही मानना सो ही युक्त है । इसका समाधान यह है कि रोमाञ्चादिकमें सात्त्विकभावत्व और अनुभावत्व दोनों देखते हैं इससे इन दोनोंको विरोध नहीं है, सो जानना ॥

अब कोई भ्रान्त यह शंका करते हैं कि अंगका संकोच और नेत्रमर्दन इत्यादिको भी भाव कहना चाहिये । इस शंकाका यह समाधान है कि अंगाकृष्टि और नेत्रमर्दनादि जो हैं तिनमें भावलक्षण नहीं रहता है । इससे वे भाव नहीं कहाते हैं क्योंकि रसके अनुकूल जो विकार सो भावलक्षण कहा है । ऐसा हुआ तो अंगाकृष्टयादि विकार नहीं है किन्तु शरीरचेष्टा है । यह बात प्रत्यक्षसिद्ध है क्योंकि

न चांगाकृष्टिनेत्रमर्दनादीनामपि भावत्वापत्तिः । तेषां भावलक्षणाभावात् । रसाऽनुकूलो विकारो भाव इति हि तल्लक्षणम् । अंगाकृष्ट्यादयो हि न विकाराः । किन्तु शरीरचेष्टाः । प्रत्यक्षसिद्धमेतत् । अंगाकृष्टिरक्षिमर्दनं च पुरुषैरिच्छया विधीयते परित्यज्यते च । जृम्भा च विकारादेवभवति तन्निवृत्तौ निवर्त्तते चेति । यथा–

आधाय मौनं रहसि स्थितायाः सम्भाव्य जृम्भामचलात्मजायाः॥
चुटत्कृतिं स्मेरमुखो महेशः करांगुलीभिः कलयाञ्चकार ॥ ११ ॥

इति श्रीभानुदत्तमिश्रविरचितायां रसतरंगिण्यां सात्त्विकभावनिरूपणं नाम चतुर्थस्तरंगः ॥ ४ ॥

अंगाकृष्टि और नेत्रमर्दन पुरुष इच्छासे करते हैं और त्याग करदेते हैं इससे ये विकार नहीं हैं । और जृम्भा तो विकारसे ही होताहै और विकारकी निवृत्तिमें निवृत्त होजाताहै, इससे जृम्भाको सात्त्विकभाव कहना युक्त है, अंगाकृष्ट्यादिको कहना युक्त नहीं सो जानना । इस जृम्भाका उदाहरण–"**आधाय**" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि महादेव जो हैं सो मानको धारण करके एकान्तमें स्थित जो पार्वती उसकी जृम्भाको निश्चय करिके (उसही जृम्भारूप हेतुकरिके मानका दूर करना सुसाध्य है इस ज्ञानसे) हँसतेहुए ऐसे हाथकी अंगुलियोंसे चुटत्कृति अर्थात् चुटत् यह अनुकरण है जिसका उस शब्दको करतेभये अर्थात् मान उडकरके गया इस हेतुसे हँसते हैं ।

इति श्रीरसतरङ्गिणीभाषाटीकायां सात्त्विकभावनिरूपणं नाम चतुर्थस्तरङ्गः ॥ ४ ॥

---

१ चादृष्यानिमिति पाठान्तरम् ।

पञ्चमस्तरंगः ५.

अथ व्यभिचारिभावा निरूप्यन्ते । तत्र भरतः-

निर्वेदग्लानिशंकाख्यास्तथासूया मदः श्रमः ।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः ॥ १ ॥
व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा ।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्राऽपस्मार एव च ॥ २ ॥
सुप्तिर्विबोधोऽमर्षश्चाऽप्यवहित्थमथोग्रता ।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥ ३ ॥
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः प्रयान्ति रसतांममी ॥ ४ ॥

अब प्रसंगसंगतिसे अथवा अवसरसंगतिसे व्यभिचारिभावनिरूपणकी प्रतिज्ञा करते हैं "अथ" इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि सात्त्विक भावनिरूपणानन्तर व्यभिचारिभाव निरूपित कियेजातेहैं । इन व्यभिचारिभावोंको मानसत्व होतसन्तें स्थायिभावप्रकारक आरोपविशेष्यीभूत भावत्वरूप लक्षणसे लक्षितत्व जो है सोही पृथक् निरूपणमें बीज है इस हेतु व्यभिचारिभावोंका विभाग करतेहैं "तत्र भरत" इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि निर्वेदादि ए तेतीस भाव व्यभिचारिपदवाच्य हैं सो जानना । ये तेतीस व्यभिचारीनामसें कथित हैं लक्षणसे कथित नहीं हैं । और पाठान्तरमें ये तेतीस भाव रसताको प्राप्त होवेहैं यह व्याख्या जाननी चाहिये । यहां यह विचार होताहै कि व्यभिचारिपदप्रवृत्तिनिमित्त जो व्यभिचारित्व सो शारीरमानसविकारसाधारण है अर्थात् दोनोंमें है इस हेतु दोनोंको लक्ष्यता युक्त है :इस ही अभिप्रायसे

१ समाख्यातास्तु नामतः-इति पाठान्तरम् ।

इतस्ततो रसेषु संचारित्वमनेकरसनिष्ठत्वमनेकरसव्याप्यत्वं व्यभिचारित्वम्। न च रोमाञ्चादावतिव्याप्तिस्तेषामपि संग्राह्यत्वात्। ते च भावाः शारीरा व्यभिचारिण एते त्वान्तरा व्यभिचारिण इयान्विशेषः। ननु निर्वेदादेः स्थायित्वं व्यभिचारित्वं च कथमिति चेन्न, रसपर्यन्तस्थायित्वमितस्ततोगामित्वञ्चोपाधिभेदमादायोभयसम्भवात्।

सामान्य लक्षण करतेहैं "इतस्ततः" इत्यादि वाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि इतस्ततः अर्थात् काव्यनाटयादिरूप अनियत कारणसे सहृदयके प्रविष्ट हृदयमें और रसचर्व्यमाण होत सन्ते सञ्चारी अर्थात् चर्व्यमाण भावत्व जो है सो ही व्यभिचारि लक्षण है। ऐसा हुआ तो मानसत्वभावको त्यागकरिकै स्थायिभावप्रकारक आरोपाविशेषी भूतभावत्व उभयसाधारण लक्षण कहा सो जानना। यहां फिर यह विचार हुआ कि व्यभिचारिपद प्रवृत्तिनिमित्त जो है सो शारीर और मानस दोनोंमें रहता होय तबही दोनोंको लक्ष्यता कहना युक्त है इसही हेतुसे व्यभिचारिपदप्रवृत्तिको उभयसाधारणता दिखाते हैं "अनेकरसनिष्ठत्वम्" इत्यादि वाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि अनेकरसोंमें निष्ठा अर्थात् पोष्यपोषकभावरूप है सम्बन्ध जिनका सो कहिये अनेकरसनिष्ठत्व जो है सोई व्यभिचारिपदप्रवृत्तिनिमित्त है सो उभयसाधारण है। फिर यह विचार भया कि पोष्यपोषकभावरूप सम्बंध रसका केवल इनहीको नहीं है यहही कहनेके निमित्त व्यभिचारिपदप्रवृत्तिनिमित्त दिखाते हैं "अनेकरसव्याप्यत्वम्" इस ग्रन्थसे। इसका यह अर्थ है कि अनेक जो रस उनकी जो चर्वणा अर्थात् बारंबार अनुसन्धान उसकी व्याप्य जो सामग्री तामें निष्ठत्व यही व्यभिचारिपदप्रवृत्तिनिमित्त है। यह शारीर और मानस दोनोंमें रहता है इस हेतु यह प्रवृत्तिनिमित्त हो सकैगा। इस लक्षणमें भी कहीं विभावादिमें अतिव्याप्ति वारणार्थ भावत्वविशेषण देना सो जानना। अभिप्रायको नहीं जाननेवाले पुरुष शंका करते हैं कि ऐसा व्यभिचारिभावका लक्षण कहोगे तो रोमाञ्चादिमें अतिव्याप्ति होगी क्योंकि यह लक्षण वहां भी प्राप्त है। इसका समाधान आशयको प्रकट करिकै कहते हैं "तेषाम्" इत्यादि वाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि रोमांचादिकभी संग्राह्य है अर्थात् व्यभिचारिलक्षणके लक्ष्यही हैं। इतना विशेष जानना चाहिये कि इन संपूर्ण व्यभिचारिभावोंका जो लक्षण है और लक्ष्य है तहां शारीरत्व और मानसत्व इन विशेषणोंसे भेद करदेना। अभिप्राय यह है कि शारीर जो व्यभिचारिभाव हैं उनके लक्षण और लक्ष्यमें शारीरत्व विशेषण देदेना। और आन्तर जो व्यभिचारी हैं उनके लक्षणमें और लक्ष्यमें आन्तरत्व विशेषण

स्वावमानं,निर्वेदः संसारे हेयत्वबुद्धिर्वा निर्वेदः। तत्र विभावास्तत्त्वज्ञानापदीर्षादयः। अनुभावाः स्वेदप्रकाशचिन्ताश्रुपातादयः। यथा-

देदेना। और शारीर सात्त्विकभावका जो अवान्तर भेद अर्थात् स्तंभस्वेदादि भेद हैं उनके लक्षणमें और लक्ष्यमें शारीरत्व विशेषण देदेना। और आन्तर व्यभिचारीका जो अवान्तर भेद है निर्वेदादि उसके लक्षणलक्ष्यमें मानसत्व विशेषण देदेना, सो जानना। यहां यह शंका होती है कि निर्वेद अथवा अमर्ष अथवा त्रास इनको स्थायित्व और व्यभिचारित्व दोनों कहना किस प्रकार बनैगा? क्योंकि स्थायित्व और व्यभिचारित्व ये दोनों विरुद्ध हैं, क्योंकि भावविशेष्यक आरोपप्रकारत्व तो स्थायित्व है और स्थायिभावारोपविशेषभावत्व व्यभिचारित्व है। ऐसा हुआ तो विचार करके देखो कि एक वस्तुमें विशेष्यत्व और प्रकारत्व दोनों नहीं रह सकते हैं। इसका समाधान यह है कि श्रृंगार रसका स्थायिभाव जो रति सो करुण रसका व्यभिचारिभाव भी होताहै। तो अब देखो रसपर्यन्त स्थायित्व होनेसे श्रृंगार रसका स्थायित्व रतिमें है। और इतस्ततोगामित्वरूप जो व्यभिचारित्व सो भी करुणरसका रतिमें है। यह बात दृष्ट है इस हेतु निर्वेदादिमें स्थायित्व और व्यभिचारित्व दोनों होनेसे विरोध नहीं जानना चाहिये। फिर यह शंका होती है कि जो रति व्यभिचारिभाव है, तो निर्वेदादि व्यभिचारिभावोंकी गणनामें रतिकी गणना नहीं की तो न्यूनता होगई। गणना किये विनाभी जो रतिमें व्यभिचारित्व मानो तो जिस प्रकार शान्त रस मानते हैं, तिसही प्रकार पुत्रादिविषयकरतिरूप स्थायिभावसंबंधी वात्सल्याख्य रसान्तरभी मानना होगा इसका प्रत्याख्यान नहीं बनेगा। इसका समाधान यह है कि रतिकी स्थायिभावमें गणना की ताकरिकैही रतिकी व्यभिचारिभावमेंभी गणना होगई जिस प्रकार व्यभिचारिभावमें निर्वेदकी गणना करिकै स्थायिभावमें भी निर्वेदकी गणना होजाती है। इससे न्यूनता दोष नहीं रहैगा सो जानना। यहां यह शंका कोई करै कि रतिकी तो व्यभिचारिभावमें गणना करदेते और निर्वेदकी स्थायिभावमें गणना करदेते। ऐसा भी करनेमें मुनिका सामर्थ्य थाही फिर ऐसाही क्यों नहीं किया। यह शंका करना समीचीन नहीं। गणना करनेवालेकी इच्छा इसमें नियामक है। यहां अशोकवनितान्याय ग्रहण कियाजाता है और मुनिकेप्रति तो यह शंका करना सर्वथाही अनुचित है। व्यभिचारभावके व्यञ्जनमें विभाव अनुभाव दोहीकी सहायता जानना। एक व्यभिचारिभावके व्यञ्जनमें दूसरे व्यभिचारिभावकी अपेक्षा नहीं इस तु निर्वेदका विभाव अनुभाव दिखाते हैं। "तत्र" इत्यादि वाक्यसे।

क्षोणीपर्यटनं श्रमाय वि[1]हितं वादाय विद्यार्जिता
मानध्वंसनहेतवे परिचितास्तेते धराधीश्वराः ॥
विश्लेषाय सरोजसुन्दरदृशामास्ये कृता दृष्टयः
कुज्ञानेन मया प्रयागनगरे नाऽऽराधि नारायणः ॥९॥

तत्र यह जो पद है सो षष्ठ्यर्थमें सप्तम्यन्त जानना तो यह अर्थ हुआ कि निर्वेदरूप व्यभिचारिभावके विभाव तो तत्त्वज्ञान और आपत्ति कि अर्थात् गृहकलहादि और ईर्षा आदि हैं। और अनुभाव स्वेद और प्रकाश और अश्रुपातादि हैं। तहां आपका जो अवमानन अर्थात् अवज्ञा (किं जीवनेन इत्याकारा) अथवा संसारमें जो हेयताबुद्धि अर्थात् यह संसार असारही है इसमें प्रवृत्ति होनेसे क्या? इत्याकारक सो निर्वेद है। यहां यह रहस्य जानना कि कोई व्यभिचारिभाव आपकी सामग्रीसे व्यंग्यताको प्राप्त होकरिके प्रधानताको प्राप्त होजाय तहां मध्यमें और व्यभिचारिभावका अल्पसामग्रीसे व्यञ्जन होकरिके प्रधानभूत व्यभिचारिभावका अंग होनेमें कुछ निषेध नहीं है, जिस प्रकार गर्व जहां प्रधान होगा तहां अमर्षके गुणीभाव होनेमें कोई दोष नहीं है। यहां ऐसी शंका कदाचित् कोई करै कि ऐसा जहां काव्य होगा तहां उस काव्यमें गुणीभूत-व्यंग्यत्वकी आपत्ति होगी क्योंकि उसकाव्यमें व्यभिचारिभाव गुणीभूत होकरिके व्यंग्य हुआ है। तो इस शंकाका यह समाधान है कि गुणीभूत व्यंग्यका यह अर्थ है कि गुणीभूत अर्थात् भावान्तरका अंगभूत व्यंग्य अर्थात् उपात्त विभावाऽनुभावोंसे अभिव्यञ्जित चर्वण विषयीभूत होय जहां सो कहिये गुणीभूतव्यंग्य ऐसा हुआ तो जहां मध्यमें गुणीभूत होकरिके व्यभिचारिभाव व्यंग्य हुआ है तहां गुणीभूत-व्यभिचारिभावका विभाव अनुभाव पृथक् उपात्त नहीं है इससे वह काव्य गुणीभूत-व्यंग्य नहीं होगा सो जानना। निर्वेदादिका विभावभी निमित्त कारणमात्र जानना रसवत् आलम्बन उद्दीपनकी अपेक्षा नहीं। यदि कोई स्थानमें आलम्बन उद्दीपनरूपभी कारण होजाय तो कोई विद्वेष नहीं है सो जानना। अब इसका उदाहरण "क्षोणीपर्यटनम्" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि कुज्ञान अर्थात् मोहमूलकभ्रमयुक्त ऐसा मैंने जो नानादेशमें भ्रमण किया सो भ्रमण होगया तोभी अभिलषितार्थकी वासना पूर्ण नहीं हुई इससे श्रमके निमित्तही किया। अभिप्राय यह है कि जितना भ्रमण किया तितनी तृष्णा बढतीही गई और विद्या अर्थात् तर्कतन्त्रादि जो हैं सो कथाके अर्थ अर्जित किये अर्थात्

१ विदुषामिति पाठान्तरम्।

ग्लानिर्निर्बलता निःसहता वा । तत्र विभावा रत्यायासतृट्क्षुधादयः । अनुभावा निर्व्यापारदृग्भ्रमादयः । यथा-

---

दृढ अभ्यास किया । अभिप्राय यह है कि हमारी विद्यासे किसीका उपकार नहीं हुआ । और वह वह अर्थात् अहंकार करिके अनादर कियाहै सम्पूर्ण संसारका जिनने ऐसे जो धराधीश्वर अर्थात् राजा सो मानके नाशनिमित्त अर्थात् अपमानके निमित्त परिचित अर्थात् अनुसृत किये । अभिप्राय यह है कि उन राजाओंको गुणग्राहक पण्डितकी संगति नहीं थी । और पद्मवत् मनोहर हैं नेत्र जिनके ऐसी जो स्त्री उनके मुखपर जो दृष्टि की अर्थात् साभिलाष उनको देख सो विश्लेष अर्थात् वियोगसे उत्पन्न दुःखके अनुभवके निमित्त की । अभिप्राय यह है कि सदा संभोगोत्कण्ठाही रही परन्तु प्रयागनगरमें नारायणका आराधन नहीं किया । नाना कर्म करिके क्लेशयुक्त जो कुटुम्बनायक उसकी उक्ति यह श्लोक है सो जानना । यहां आपदादिसे विभावित और चिन्तादिसे अनुभावित जो निर्वेद सो चर्वणा विश्रामस्थान है इस हेतु यह भावकाव्य कहाताहै सो जानना । और जहां रसकाव्य है तहां भावकी प्रतीति होनेपरभी स्थायिभावहीमें चर्वणाका विश्राम होताहै क्योंकि वहां भावका आपके असाधारणरूपसे प्रकाश नहीं होताहै । यह बात स्मरण रखना चाहिये । और जहां आपके असाधारणरूपसेभी अलंकारादिका अंग होकरिके भाव प्रतीत होताहै तहां भी यह भाव भावपदकरिके व्यवहारयोग्य नहीं है किन्तु अलंकारकाव्यही है जिस प्रकार "यातु प्राघुणिको निजां तृणकुटीं गन्ताध्वगं दण्डवच्चेतस्त्वत्परिपालितां दिशमिमां चीनांशुकद्यावति । श्रीमच्छासनसेविभिः कतिपयैः सूत्रैर्विवर्णैरपि स्वीयैर्यन्त्रितमध्वगैरिदमिव स्वास्थ्यं तदालम्ब्यताम्" यहां पूर्णोपमा अलंकार मुख्य है । प्रभुविषयक रतिभाव अप्रधान है सो जानना ॥

अब ग्लानिका लक्षण करते हैं "ग्लानिः" इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि निर्बलता अर्थात् धातुपाटवाभाव अथवा निःसहता अर्थात् व्याध्यादिप्रभूत वैवर्ण्यादिकृत दुःखविशेष ग्लानि है । यहां प्रथमपक्षमें ग्लानि वस्तु शरीरधर्म होजाताहै आन्तर नहीं कहावेगा इस हेतु दूसरा पक्ष कहा । यहां यह शङ्का हुई कि जो द्वितीय पक्षही समीचीन है तो प्रथमपक्षकी उक्ति असंबद्धप्रलाप होजायगा । इसका समाधान यह है कि निर्बलता कहनेसे बलहानिके सामानाधिकरण्यके प्रत्यायनकरिके बलसमानाधिकरणश्रमकापार्थक्य समर्थनके अर्थ प्रथम पक्ष सार्थक है सो जानना । ग्लानिका विभाव रतिसे श्रम और तृषा और क्षुधा

व्याहर्तुं पुनरीक्षणाय न गिरः कण्ठाद्बहिर्निःसृताः
शेषाश्लेषविधिं विधातुमपि वा नैवोन्नता दोर्लता।
प्रातस्तल्पमपास्य गच्छति हरौ चण्डांशुचण्डातप-
क्लिष्टश्लिष्टकुरंगभंगुररुचस्तस्याः स्थिता दृष्टयः॥ ६॥

उत्कटकोटिकानिष्टप्रतिसंधानमिष्टहानिविचारो वा शंका। तत्र दुर्नयपरक्रौर्यादयो विभावाः। अनुभावाः कम्पक्रिया-प्रच्छादनादयः। यथा-

एते चित्तविलोचना गुरुजना जिह्वाग्रदोषाः खलाः
पौराः क्रूरवचःप्रपञ्चयशसः श्वश्रूश्च चक्षुःश्रवाः।

इत्यादि जानना। अनुभाव विवर्णता और शिथिलता और नेत्रका भ्रमण इत्यादि जानना। इसका उदाहरण "व्याहर्तुम्" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि श्रीकृष्ण जो है सो प्रातःकालमें शयनको छोडकरिके जातसन्तें उस राधाका वचन जो है सो फिर दर्शन देनेके अर्थ प्रार्थना करनेको कण्ठसे बाहर नहीं निकला और उस राधाकी बाहुलताभी शेषाश्लेषविधि अर्थात् संभोगका अंग पारितोषिक आलिंगन करनेको ऊंची नहीं हुई किन्तु दृष्टि जे हैं ते सूर्यके उग्र तापसे जो उष्ण उससे क्लिष्ट अर्थात् पराहत ऐसा जो श्लिष्टकुरंग अर्थात् चन्द्रमा उसकीनाईं भंगुर अर्थात् भंगशील है कान्ति जिसकी ऐसी होती भई। यहां रत्यायासमें विभावित और वैवर्ण्यादिसे अनुभावित जो ग्लानि सो चर्वणाका विश्रामस्थान है। अब शंकाका लक्षण करते हैं "उत्कट" इत्यादि वाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि उत्कटकोटिक जो अनिष्टप्रतिसन्धान अथवा इष्टहानिका विचार सो शंका है। यहां इष्टहानिभी अनिष्टान्तर्गतही है तो द्वितीय पक्षभी प्रथम पक्षमें ही अन्तर्गत होगया फिर यहां वाशब्द जो दिया है सो संगृहीतके विवेकार्थ है सो जानना। इसही हेतु विभाव और अनुभावभी यथायोग्य दिखाते हैं "तत्र" इत्यादि वाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि शंकाके दुर्नीति और परक्रूरता इत्यादि विभाव हैं और कंप और क्रियाका ढकना इत्यादि अनुभाव हैं। तो विचार करना चाहिये कि अनिष्टका जो प्रतिसंधान उसका विभाव तो दुर्नय है और इष्टहानिविचारमें परकी क्रूरता विभाव है। और पूर्वपक्षमें अनुभाव कंप है तथा द्वितीयपक्षमें क्रियाप्रच्छादन है। अब इसका उदाहरण "एते चित्तविलोचना"

किं स्यादित्थमनर्थबीजमसकृत्सञ्चिन्त्य वक्षोरुहि
स्फूर्जत्किंशुकदाम वामनयना निःश्वस्य विन्यस्यति॥७॥
परोत्कर्षासहिष्णुता परानिष्टचिकीर्षा वा असूया । तत्र
विभावा मन्युदौर्जन्यादयः । अनुभावाः कोपचेष्टादो-
षोद्भावनादयः । यथा-
हरशिरसि मयाप्यलब्धवासे निवसति काऽपि कलातुषा-
रभानोः ॥ इति लिखति विधुन्तुदस्य मूर्तिं प्रतिभवनं
प्रतिभूधरं भवानी ॥ ८ ॥

इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं । श्लोकार्थ यह है कि वामनयना जो है सो यह विचार करती है कि जिनका वारंवार अनुभव कियाहै ऐसे जो गुरुजन अर्थात् श्वशुरादिक सो परकीय अन्तःकरणको जाननेवाले हैं अर्थात् दूसरेके अभिप्रायको शीघ्र जानते हैं । और दुष्टजन जे हैं ते जिह्वाका अग्ररूप जो परकीय दोष ताकरिकै युक्त हैं अर्थात् परकीयदोषको प्रकट करनेमें रसिक हैं । और नगरस्थ जो लोक हैं सो मर्मभेदी वचनका जो प्रपञ्च अर्थात् वाग्विभव उससे यश अर्थात् ख्याति है जिनकी ऐसे हैं । अर्थात् परकीयनिन्दामें व्यसनवाले हैं । और सासू जो है सो चक्षुःश्रवा है अर्थात् सुने हुए अर्थमात्रका ग्रहण करनेवाली है । अथवा चक्षुश्रवा नाम बधिर है । अभिप्राय यह है कि हमको देखकरिकै अन्यथा शंका करती हुई । यह प्रतारणके योग्य नहीं है सो जानना । इत्थं कहिये ऐसे होतसते किं स्यात् अर्थात् कौन अनर्थ आपतित होगा । इस प्रकार वारंवार अनर्थबीज अर्थात् उत्कटकोटिक जो अनिष्ट उसका जो असाधारण उपाय उसका ध्यान करिकै स्तनोंमें शोभित जो पलाशकुसुमाभरण उसको निःश्वास लेकरिकै (नखक्षतके गोपनार्थ, वामनयना जो है सो स्थापित करती है । यहां आपका जो दुर्नय और परकीय क्रौर्य दोनोंसे विभावित गम्य । और कम्पक्रियाप्रच्छादन दोनोंसे अनुभावित जो शंका सो चर्वणाविश्रामस्थान है । अब असूयाका लक्षण "परोत्कर्ष" इत्यादि वाक्यसे कहते हैं । वाक्यार्थ यह है कि परका जो उत्कर्ष उसकी असहिष्णुता अर्थात् सहनशीलताऽभाव अथवा परका अनिष्ट करनेकी इच्छा सो असूया है । इसके विभाव क्रोध और दुर्जनता इत्यादि हैं । और अनुभाव क्रोधकी चेष्टा और दोषकथन इत्यादि हैं । उसका उदाहरण "हरशिरसि"

हर्षोत्कर्षो मदः। दुःखासंभिन्नसुखानुभव उत्कर्षः। तत्र विभावः पानम्। अनुभाव उत्तमानां निद्रा। मध्यमानां हसितम्। अधमानां रोदनम्। इन्द्रियमोहरूपाऽत्र निद्रा, तस्मादिन्द्रियसंमोहे नयनघूर्णनसाम्येन निद्रेव निद्रा। न च हर्षव्यभिचारिभावेऽतिव्याप्तिः। तत्र हर्षमात्रसत्त्वात्। न तु तत्रोत्कर्षो जातिविशेषः। किंच, तत्र मनसो मोहः। अत्र च मनसः प्रसाद इति स्वरूपभेदात्, तत्र निद्रारोदनादयोऽत्र पुलकादयोऽनुभावा इत्यनुभावभेदाच्च। ननु 'तिष्ठतिष्ठ क्षणं मूढ मधु यावत्पिबाम्यहम्' इत्यादौ वीररसेऽपि मदो दृष्टोऽस्ति। तत्र निद्रा रोदनं वा कथमनुभावौ। न हि योधः संयति रोदिति निद्राति वेति चेत्। सत्यम्, रसभेदेनाऽनुभावभेदः। शृङ्गारे तेऽनुभावकाः। वीरे नयनारुण्यचमत्कारादयः। सामान्ये च मदे नयनघूर्णनवचनस्खलनादयश्चेति॥ यथा--

---

इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि पार्वती जो है सो चन्द्रमाकी जो अनिर्वचनीयप्रभा वा कला सो मैंने भी अर्थात् अर्धांगीकृत जो मैं हूं तिसने नहीं पाया है वास जिसमें अर्थात् दुष्प्राप्य है स्थिति जिसमें ऐसा जो शिवका मस्तक उसमें निवास करती है। इस हेतु राहुकी मूर्तिके चित्रको घरघरमें और पर्वत पर्वतमें लिखती है। यहां चन्द्रकलाकी जो शिवमस्तकमें स्थिति उससे उत्पन्न जो चन्द्रकलाविषयक क्रोध उससे विभावित और चन्द्रकलाग्राससमर्थ जो राहु उसकी प्रतिमाका सर्वत्र लेखनरूप जो कोपचेष्टा उससे अनुभावित जो चन्द्रकलाविषयक असूया सो चर्वणाविश्रामस्थान है।

अब मदका लक्षण कहतेहैं "हर्षोत्कर्ष" इत्यादि वाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि हर्षका जो उत्कर्ष सो मद है। यहां उत्कर्ष जो है सो दुःखसे नहीं मिलाहुआ ऐसा जो सुख उसका अनुभवरूप जो कहेंगे तो आगे उत्कर्षको जातिरूप वर्णन किया सो असंगत होजायगा, इस हेतु दुःखासंभिन्नसुखानुभवानियत जो

रसना रसयत्यसौ मधु स्वयमस्माकमनर्थकं जनुः ।
इति तत्र समस्तमिन्द्रियं प्रतिबिम्बस्य मिषेण मज्जति ॥ ९ ॥

जातिविशेष सो उत्कर्ष है, यह कहनेसे तत्त्वसाक्षात्कारमें भी अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि वहां उत्कर्ष नहीं है सो जानना। इसका विभाव पान है और अनुभाव पुरुषभेदसे विलक्षण है क्योंकि उत्तमको तो पान करनेसे निद्रा होती है। और मध्यमको हसना होताहै। और अधमको रोदन होताहै। इस हेतु मदका अनुभाव विलक्षण जानना। यहां निद्रा जो है सो इन्द्रियोंका संमोह है यह वास्तविक निद्रा नहीं है। किन्तु इन्द्रियके संमोहमें नयनघूर्णनका साम्य होनेसे निद्रासदृश यह निद्रा है। यहां हर्षमात्रको मद कहते तो हर्षरूप व्यभिचारिभावमें अतिव्याप्ति होजाती क्योंकि यह भी व्यभिचारिभाव हर्षरूप होनेसे मद कहावेगा, इस हेतु उत्कर्ष पद दिया तो हर्षरूप व्यभिचारिभावस्थलमें हर्षमात्र हर्षमें उत्कर्षरूप जातिविशेष नहीं है। और सुनो कि मदरूप व्यभिचारिभावमें मनका मोह है और हर्षरूप व्यभिचारिभावमें मनको प्रसन्नता है। यह कहनेका अभिप्राय यह है कि मदरूप व्यभिचारिभावस्थलमें मनको मोहपद करिके व्यवहार है और हर्षरूपव्यभिचारिभावमें मनको प्रसादपद करिके व्यवहार है। इस प्रकार दोनोंको स्वरूपभेद है। और सुनो कि मदमें तो उत्तमको निद्रा, मध्यमको हसन, अधमको रोदन ये अनुभाव हैं और हर्षरूपव्यभिचारिभावस्थलमें पुलकादिक अनुभाव हैं। इस प्रकार अनुभावभेदसे भी हर्षरूप व्यभिचारिभाव वा मदरूप व्यभिचारिभाव इनको भेद जानना। अब यहां यह शंका है कि 'तिष्ठ-तिष्ठ' इत्यादि सप्तशतीस्तोत्रमें देवीको वीररसमें भी मद देखते हैं तहां निद्रा वा रोदन ये अनुभाव किस प्रकार होंगे ? क्योंकि योद्धा संग्राममें न निद्रा लेते हैं न रोदन करतेहैं। इस शंकाका समाधान यहहै कि यह बात सत्य है परन्तु रसभेदसे अनुभावभेदभी होताहै इस हेतु यह जो निद्रादि अनुभाव कहेहैं सो शृंगाररसमें जानना। और जहां वीररसमें मद है तहां नयनकी अरुणता और चमत्कार इत्यादि अनुभाव हैं। जहां सामान्य मद है तहां नयनघूर्णन वचनस्खलन इत्यादिही अनुभाव हैं सो जानना। अब मदका उदाहरण "रसना" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि यह जो अर्थात् हमारा सजातीय रसना इन्द्रिय जो है सो आपही मधुको आस्वादित करताहै। हमारा सबका जन्म (इष्टानवाप्तिसे) अनर्थक है । इस हेतुसे उस मधुमें सम्पूर्ण इन्द्रियसमूह प्रतिबिम्बके छलसे डूबताहै। यहां उत्प्रेक्षा व्यञ्जित होती है। यहां उत्प्रेक्षाका वाचक शब्द नहीं है। इस हेतु उत्प्रेक्षा

आयासप्रभवः पराभवः श्रमः। तस्य विभावा रत्य-ध्वगत्यादयः। अनुभावाः स्वेदनिस्सहतादयः। यथा--
स रामचन्द्रः सह निर्गतायाः स्वेदाम्बुसंसिक्तपयोधरायाः।
अपांगपातैर्मिथिलात्मजायाः श्रमानशेषाञ्छिथिलीचकार १०

यहां इस प्रकार समझनी कि मधुमें इन्द्रियवर्गका जो प्रतिबिम्ब है सो मानो इन्द्रियवर्ग इष्टानवाप्तिसे दुःखित होकर डूबगयाहै। यहां मज्जति इस पदका अभिप्राय यह है कि पानके समकालही उत्पन्न जो मद उससे उत्पन्न जो नयनघूर्णन उससे उत्पन्न पानके चिरसम्बन्धसे बहुत काल पर्यन्त मधुमें इन्द्रियोंकी संमुखता उत्पन्न हुई। यहां पानसे विभावित गम्य जो नेत्रघूर्णन उससे अनुभावित जो मद सो चर्वणा विश्रामस्थान है सो जानना। अब बलविरोधिग्लानिसे बलकी अविरोधिता प्रतिपादन करिके श्रमके भेद दिखाते हुए श्रमका लक्षण करते हैं "आयास" इत्यादि वाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि परिश्रमसे ही उत्पत्ति है जिसकी ऐसा जो पराभव अर्थात् खेदनामक दुःखविशेष सो श्रम है। यहां परिश्रमसेही यह जो कहा तिसका यह अभिप्राय है कि बलहानिसे खेद नहीं है तो बलहानिका कथन नहीं हुआ इससे बलहानिका जो निषेध है सो ही पदसे कहागया। इससे यहां बलसमानाधिकरणही श्रम जानना इस हेतु बलहानिसमानाधिकरण जो ग्लानि तहां अतिव्याप्ति नहीं हुई। क्योंकि वहां बलसामानाधिकरण्य नहीं है सो जानना। इसके विभाव रतिमार्गमें चलना इत्यादिक हैं। अनुभाव प्रस्वेद निस्सहता इत्यादिक हैं। इसका उदाहरण "स राम" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह कोई कहते हैं कि राम कहिये योगियोंका जो मन उसका विश्रामधाम और चन्द्र अर्थात् सकलमनुष्योंको आह्लाद देनेवाला तो यह अर्थ हुआ कि वह जो योगिमनोविश्रामधाम और सकलजनाह्लादक ऐसा पुरुष सो साथगई ऐसी और इसही हेतु प्रस्वेदजलसे युक्त हैं पयोधर जिसके ऐसी (यह कहनेसे सूर्यके सम्बन्धसे उत्पन्न स्वेदको आन्तरविकारानुमापकता किस प्रकारहोगी यह शंका करनेवाले परास्त हुए क्योंकि यहां आन्तरविकारहीसे स्वेद कथन हुआ) जो मिथिलात्मजा अर्थात् जानकी उसके सम्पूर्ण जो श्रम अर्थात् विकृत और अविकृत जो श्रम हैं उनको नेत्रप्रान्तके पातकरिके शिथिल करताभया। यह व्याख्या समीचीन नहीं क्योंकि यच्छब्दतच्छब्दको नित्य साकांक्षता होती है सो यच्छब्दका अध्याहार आवश्यक है सो नहीं किया इससे तच्छब्द साकांक्षही रहगया। यदि यहां तच्छब्दको प्रसिद्धार्थकता कहकरिके यच्छब्दसाकांक्षताका वारण करोगे

उत्थानाद्यक्षमत्वमालस्यम् । तत्र विभावा गर्भादयः । अनुभावाः क्रियाकातर्यादयः । यथा–

तो भी तच्छब्दको प्रसिद्धार्थकता माननेसे भी दोषपरिहार नहीं होगा । क्योंकि सहशब्दके योगमें तृतीया होती है सो यहां नहीं है । यदि कदाचित् येन ऐसे पदका अध्याहार करिके दोनों ही दोषके उद्धारकी इच्छा करोगे तो भी इस व्याख्यामें अपांग किसका यह जो शाब्दबोधमें आकांक्षा उसका पूरण नहीं है । और सुनो कि भाववस्तुको यत्नकी असाध्यता जिस प्रकार होती है इसही प्रकार यत्न करिके अनाश्यताभी सम्पूर्ण आलंकारिकोंके अभिमत है । ऐसा हुआ तो सम्पूर्णश्रम शिथिल करदिये यह अर्थ भी योग्य नहीं । और सुनो कि इस व्याख्यामें श्रमको श्रमपदसे कहा इससे वमनाख्य दोषभी दुर्निवार्य है इस हेतु यह व्याख्या युक्त नहीं । इससे इस श्लोककी ऐसी व्याख्या करनी कि जिस रामचन्द्रके अपांगपातोंके साथ गई ऐसी (यह कहनेका अभिप्राय यह है कि दृष्टिकरिके पवित्र जो स्थान तहां पादन्यास करना इस नीति शास्त्रके अनुसार जिस देशमें जानेके हेतु रामचन्द्रकी इच्छा हुई उस देशमें हमको श्रम नहीं है । साथ जानेमें हमारा प्रतिषेध कोई मत करो यह मान करिके श्रमभावसूचनके वास्ते उस देशमें अगाडी होकरिके जानेवाला ऐसी) इसही हेतु प्रस्वेदजालोंसे युक्त हैं पयोधर जिसके ऐसी (यहां पयोधरमें जो स्वेद कहा उसका यह अभिप्राय है कि प्रस्वेद जहां होताहै तहां मस्तकको आरम्भकारिके होताहै यह रीति है। यहां स्तनमें प्रस्वेद कहा इससे मध्यम श्रम सीताको भया सो जानना) फिर कैसी है सीता कि मिथिला नाम जो जनकपुरी उसका पति जो जनक सो भी मिथिल है उसकी पुत्री ऐसी सीताके सम्पूर्ण जो श्रम हैं अर्थात् मार्गकाठिन्यादिक उनको वह रामचन्द्र शिथिल करता भया । शिथिलकरनेका प्रकार 'पृथिव त्वं भव कोमला' इत्यादि श्लोकसे रसमञ्जरीमें कहाहै सो जान लेना । इस श्लोकमें श्रमका कारण जो मार्गकाठिन्यादि उसमें उपचारसे श्रमपद कहा सो जानना यहां मार्गगमनसे विभावित प्रस्वेदसे अनुभावित जो श्रम सो चर्वणा विश्रामस्थान है । अब आलस्यका लक्षण करते हैं । "उत्थान" इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि उत्थानादिमें जो अक्षमता सो ही आलस्य है यहां यह शंका हुई कि पूर्वोक्त ग्लानिमें और वक्ष्यमाण जडतामें भी उत्थानादिकी अक्षमता है तो अतिव्याप्ति होगी । इसका समाधान यह है कि बलका समानाधिकरणत्व होनेसे और अवश्यकर्तव्यार्थप्रतिसन्धानसमानाधिकरणत्व होनेसे क्रियामें उन्मुखताऽभाव जो है

हरं हरन्तं स्तनहारयष्टिं करेण रोद्धुं न शशाक तावत् ।
गिरेः सुता गर्भवती विहस्य दृगञ्चलं कातरयाञ्चकार ॥ ११ ॥

दुरवस्था दुःखातिरेको वा दैन्यम् । अनौज्ज्वल्यमिति केचित् । तन्न, तस्य बहिर्विषयत्वेन तदनुभावकत्वात् । विभावा दारिद्र्यादयः अनुभावाः कायक्लेशक्षुत्पीडनादयः । यथा तातचरणानाम्—

अंसे कुन्तलमालिका स्तनतटे नेत्राम्भसां निम्नगा
माद्यन्मन्मथकुञ्जरेन्द्रवचनप्रान्ते विलग्नं मनः ।
किन्त्वन्यद्विरहानलेन सरसं संदह्यमानं वपु-
र्गण्डे पाण्डिमकैतवेन सुतनोः फेनोच्चयं मुञ्चति ॥ १२ ॥

सो आलस्य है । ऐसा हुआ तो ग्लानिमें बलसमानाधिकरणत्व नहीं है और जडतामें अवश्यकर्तव्यार्थ प्रतिसन्धान नहीं है, इससे इन दोनोंमें अतिव्याप्तिका वारण होजायगा । इसके विभाव गर्भादिक हैं । अनुभाव क्रियामें कातरता इत्यादिक हैं । इसका उदाहरण "हरम्" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि गर्भयुक्त ऐसी जो पर्वतकी पुत्री पार्वती सो प्रेमातिशयसे हँसकरिके दृगञ्चल अर्थात् नेत्रकी रचनाको विचलित करती भई । परन्तु स्तनहारलताको हरण करतेहुए जो शिव उनको हाथसे रोकनेको नहीं समर्थ भई । यहां गर्भविभावित और दृष्टिरचनाके विचलनसे और हरनिरोधमें अप्रवृत्तिसे अनुभावित जो आलस्य सो चर्वणाविश्रामस्थान है सो जानना ॥

अब दैन्यका लक्षण कहते हैं "दुरवस्था" इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि दुरवस्था अर्थात् दुरवस्थासाध्य अन्तःकरणवृत्ति दैन्य है । यदि दुरवस्यासाध्य अवस्थान्तर नहीं मानो तो दुःखको जो उत्कर्ष सो दैन्य है । शोकमें अतिव्याप्ति वारणके अर्थ अतिरेकपद दिया । कोई अनुज्वलताको दैन्य कहते हैं सो समीचीन नहीं, क्योंकि अनुज्वलता वस्तु दुःखप्रकर्षरूप तो हो नहीं सकता है, मालिन्यरूप अनौज्वल्य हो सकता है परन्तु यह अनौज्वल्य अन्तःकरणका धर्म तो है नहीं किन्तु शरीरधर्म है इस हेतु यह अनौज्वल्य दैन्यका अनुभावरूप है सो जानना । इसको अनुभाव कहनेसे दैन्यके अनुभाव नहीं कहे यह शंका करनेवाले परास्त होगये सो जानना । इसके विभाव शरीरको क्लेश, क्षुधा, पीडा इत्यादि हैं । इसका उदाहरण "अंसे कुन्तल" इत्यादि श्लोकसे

चिन्ता ध्यानम् । ध्यै चिन्तायामित्यनुशासनात् । ध्यानं च न स्मरणात्मकम्, स्मृतिभावस्याग्रे पृथक्त्वेन कथनात्, किन्तु चित्तैकाग्रता । इष्टानाप्तिप्रभृतयो विभावाः । अनुभावास्तापवैवर्ण्यबाष्पश्वासादयः । यथा-

शम्भुं ध्यायसि शैलराजतनये किन्नाम जानीमहे
तस्यैवाक्षितनूनपादिव तनौ तापः समुन्मीलति ।
अक्ष्णोरश्रुमिषेण गच्छति बहिर्गङ्गातरङ्गावलिः
पाण्डिम्नः कपटेन चन्द्रकलिकाकान्तिः समुज्जृम्भते॥१३॥

कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि केशपाशबन्धनकी उपेक्षासे केशकी जो माला सो स्कन्धमें प्राप्त होगई है । और स्तनतटमें अश्रुजलकी नदी बहती है । यहां तटपद्का जो ग्रहण किया सो नदीका भी पूरोत्कर्ष कहनेके निमित्त अतिशयोक्ति है । और तरुण जो कामदेव सोही हुआ गजेन्द्र (यहां विना देखकरिकै करना यह धर्म लेकरिकै कामदेवको गजेन्द्र कहा) उससे उत्पन्न होनेसे उसका दशनरूप अर्थात् विषयकी असिद्धिप्रयुक्त दुःखात्मक बलवदनिष्टकारणत्व होनेसे दन्तत्वकरिकै अध्यवसित जो मनोरथ उसके प्रान्तमें अर्थात् मुख्य दुःखकारणता होनेसे प्रान्तत्व करिके अध्यवसित जो उस मनोरथका विषय वस्तु तहां मन जो है सो आसक्त है (यह कहनेसे इच्छाका अनुरूप विषय किसकालमें होगा इस न्यायसे मनोरथभंग भी अनुभाव दिखाया) और क्या कहते हैं सरस अर्थात् प्रेमार्द्र और विरहाग्निसे जलताहुआ ऐसा जो सुन्दरीका शरीर सो गण्डस्थलमें पाण्डुताके छलसे फेनसमूहको बाहर करता है । यहां विश्लेषपीडाविभावित और अनुज्वलतादिसे अनुभावित जो दैन्य सो चर्वणाविश्रामस्थान है । अब चिन्ताका लक्षण कहते हैं " चिन्ता " इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि ध्यान जो है सो चिन्ता है इसमें 'ध्यै चिन्तायाम्' यह शास्त्रप्रमाण भी है । यहां कोई शंका करे कि स्मृतिमें अतिव्याप्ति होगी क्योंकि वह भी ध्यानरूप है सो योग्य नहीं क्योंकि स्मृतिरूप व्यभिचारिभाव आगे न्याराकरिकै कहा है इससे यहां ध्यान स्मरण किन्तु चित्तकी एकाग्रता जो है सोही ध्यान है । इसके विभाव इष्टकी अप्राप्ति और अनुभाव ताप वैवर्ण्य बाष्प श्वास इत्यादि हैं ॥ अब चिन्ताका उदाहरण "शम्भुम्" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि हे हिमाचलपुत्रि अर्थात् पार्वति ! शंभुका ध्यान करती अर्थात् अन्तःकरणमें

मोहो वैचित्त्यम् । मुह वैचित्त्य इति धातोर्मोहनं मोह इति भावव्युत्पन्नो मोहशब्दः । वैचित्त्यं कार्याकार्यापरिच्छेदः । तस्य विभावा भीत्यावेगानुचिन्तनादयः । अनुभावाः स्तम्भपातघूर्णनादर्शनविस्मरणादयः यथा—

अन्तःस्मेरसुवर्णकेतकदलद्रोणिद्युतिद्रोहिणीं
लक्ष्मीं वीक्ष्य समुद्यदिन्दुवदनां क्षीराम्बुधेरुत्थिताम् ।
शम्भुः स्तम्भशताकुलः शतमखः कर्तव्यमूढेन्द्रियः
सोऽप्यज्ञानभुजङ्गपातपतितो जातस्त्रिलोकीपतिः ॥ १४ ॥

भी स्थापित करतीहो (ऐसा अर्थ न करैं ध्यानमात्रही कहैं तो वमनाख्य दोष होजाय) यह हम वितर्क करते हैं। और वैसाही जानते हैं क्योंकि उसही शंभुके नेत्ररूप अग्निके प्रकार उग्रतासे अग्नित्वरूपकरिकै सम्भाव्यमान जो ताप सो शरीरमें उदयको प्राप्त होताहै। और नेत्रोंसे अश्रुपातके छलसे शिवकी ही गंगातरंगावलि जो है सो बाहिर जातीहै। और पाण्डुताके छलसे चन्द्रकलाकान्ति जो है सो स्वच्छतासे प्रकाशित होती है। यहां इष्टानवाप्तिविभावित और तापवैवर्ण्यादिसे अनुभावित जो चिन्ता सो चर्वणाविश्रामस्थान है। अब मोहका लक्षण कहते हैं। "मोह" इत्यादिवाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि वैचित्त्य जो है सो मोह है। 'मुह' धातु वैचित्त्य अर्थमें है यह व्याकरणशास्त्रमें है। इस धातुसे भावमें प्रत्यय करनेसे मोह शब्द होताहै, मोह वैचित्त्यरूप ही है। इसही मोहको मोहन भी कहते हैं। कार्य और अकार्यका जो अज्ञान सो ही वैचित्त्य है। इसके विभाव भीति अर्थात् भयका प्रसार अथवा भीति और आवेग और अनुचिन्तन अर्थात् उत्कट भयकी चिन्ता इत्यादिही और अनुभाव स्तम्भ और घूमना और आदर्शन, विस्मरण इत्यादि हैं। इसका उदाहरण "अन्तःस्मेर" इत्यादिश्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि अन्तःस्मेर अर्थात् विकसित ऐसी जो स्वर्णवर्ण केतकदलकी द्रोणी अर्थात् कलिका उसकी कान्तिका द्रोह करनेवाली अर्थात् तत्सदृशकान्तिमती ऐसी (यह कहनेसे आतपसे स्पर्श नहीं है यह कहा) और उदयको प्राप्त जो पूर्ण चन्द्र तत्सदृश है मुख जिसका ऐसी। और क्षीरसमुद्रसे उठी ऐसी (यह कहनेसे कदाचित् भी किसीने देखी नहीं है यह कहा) लक्ष्मीको देखकरिके ही महादेव जो हैं सो सुखकामनासे उत्पन्न जो असंख्य स्तंभ उनसे युक्त होते भये। और इन्द्र जो है

संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः । संस्कारजन्यं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञारूपं स्मरणरूपं च, संस्कारजन्यत्वेनोभयसंग्रहः । अन्यथा प्रत्यभिज्ञायाः पृथग्भावापत्तेः । प्रत्यभिज्ञास्मृत्योर्विभावाः संस्कारोद्बोधकाः सदृशतादृष्टचिन्ताद्याः । अनुभावा भ्रूसमुन्नयनादयः । प्रत्यभिज्ञा यथा—

कालिन्दीसरसः समेत्य नभसः क्रोडे परिक्रीडते
चक्रद्वन्द्वमिदं सुधाकरकलामाक्रम्य विस्फूर्जति ।
चन्द्रोऽपि स्मरचापचापलचमत्कारं समालम्बते
तस्मात्सैव कदम्बकुञ्जकुहरे राधा परिभ्राम्यति ॥ १९ ॥

स्मृतिर्यथा--

सो कर्तव्यतामें मूढ हैं इन्द्रिय जिसकी ऐसा होता भया अर्थात् घूमने लगा । और सर्वज्ञ भी जो त्रिलोकीपति ब्रह्मा सो अज्ञानरूप जो भुजंगपाश तामें पतित होगये । ये सम्पूर्ण विस्मृतियुक्त होगये सो जानना । लक्ष्मीविषयकआवेगविभावित स्तंभघूर्णनविस्मरणाऽनुभावित शंभु–शतमख–त्रिलोकीपतिनिष्ठ मोह चर्वणाविश्रामस्थान है सो जानना ॥

अब स्मृतिका लक्षण कहते हैं "संस्कार" इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि उद्बुद्धसंस्कारसे उत्पन्न जो ज्ञान सो स्मृति है । ऐसा ज्ञान प्रत्यभिज्ञारूप और स्मरणरूप होताहै । तहां 'तत्' भागके संस्कारसहित और 'इदम्' भागके लौकिकसन्निकर्षजन्य जो 'तत्' और 'इदम्' दोनोंका तादात्म्यज्ञान सो प्रत्यभिज्ञा है । और स्वविषय यावद्विषयक संस्कारजन्य ज्ञानसे स्मरण है । ऐसा हुआ तो संस्कारजन्य यह कहनेसे दोनोंका संग्रह होगया, सो जानना । जो प्रत्यभिज्ञाका संग्रह न करें अर्थात् संस्कारमात्रजन्य ज्ञान सो स्मृति कहें तो प्रत्यभिज्ञाको दूसरा व्यभिचारिभाव कहना पडेगा, इस हेतु दोनोंकाही संग्रह किया । संस्कारके उद्बोधक अर्थात् प्रकाशक जो सदृश अदृष्टचिन्ता सो इसके विभाव जानना । और अनुभाव भ्रूको उन्नत करना इत्यादि हैं, सो जानना । अब प्रत्यभिज्ञारूप स्मृतिका उदाहरण "कालिन्दीसरसः" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि यमुनासरोवरसे आकरिकै आकाशके समीपमें यह जो चक्रवाकका जोडा है सो क्रीडा करताहै । सो जो यह चक्रवाकका जोडाहै सो चन्द्रकलाको आक्रमण करिकै अर्थात् उसकी कान्तिको जीतकरिकै शोभित होताहै । चन्द्रमा भी कामदेवका

वदनाम्बुजलग्नदृष्टिपाते मयि बध्नत्यवतंसमंसमूले ।
दरकुञ्चितदृष्टि राधिकायाः स्मितकिर्मीरितमाननं स्मरामि १६

जो धनुष उसकी चपलताके चमत्कार अर्थात् रीतिको अवलम्बित करताहै। (यह कहनेसे अर्धचन्द्रका अस्त जानेका समय व्यञ्जित करते हैं। इस व्यङ्ग्यसे प्रातःकाल व्यञ्जित होताहै। इससे जिस प्रकार रात्रिवियुक्तचक्रवाकयुगलका परस्परसे आकरिके मिलाप हुआहै तिसहीप्रकार कदम्बकुञ्जमें संकेत करनेवाले कृष्णके साथ प्रातःकाल हमारा भी मिलाप होगा। इस हृदयके अभिप्रायसे राधाका कदम्बकुञ्जपरिभ्रमण कहते हैं) इसही हेतुसे वो ही जो यह राधा अर्थात् जो राधा रात्रिमें वियुक्त रही सो ही राधा कदम्बकुञ्जके वनमें प्रियके आगमनके अभिप्रायसे सम्यक्प्रकार भ्रमण करती है, यह सखीके प्रति सखीने कहा है। यहां पूर्वपूर्व अनुभूत जो चक्रवाकादि उसका जो उत्तरोत्तर अनुभवीकरण सो ही प्रत्यभिज्ञा है वहही प्रत्यभिज्ञा चमत्कार विश्रामस्थानतासे प्रतीत होती है। पक्षान्तरव्याख्या—श्यामतारूप यमुनात्वधर्मसे आरोपित जो रोमावलि सोही हुई कालिन्दी सो सरोवर जो हुवा नाभि सरोवरधर्म वर्तुलाकारता और गम्भीरता सो नाभिमें भी है इस हेतु सरोवरसे अधिरोपित नाभि समझना चाहिये। उस सरोवरसे उत्पन्न होकरिके आकाशके तटमें अर्थात् अत्यन्त कोमलतासे आकाशत्व करिके अध्यवसित जो मध्यमभाग उसके भीतर खेलती है। और यह जो चक्रद्वन्द्व अर्थात् गोलाकारतासे चक्रद्वन्द्वत्वकरिके अध्यवसित जो कुचयुग सो चन्द्रमाकी जो कला अर्थात् कुटिलत्वधर्मकरिकै चन्द्रकलात्वकरिकै अध्यवसित जो नखक्षत ताको प्राप्त होकरिकै शोभित होताहै। और चन्द्र जो है अर्थात् आह्लादकत्वधर्मकरिकै चन्द्रत्वसे अध्यवसित जो मुख सो भी स्मरचाप अर्थात् कुटिलत्वधर्मकरिकै चापत्वसे अध्यवसित जो भ्रुकुटी उसका जो चपलतारूप क्रियाविशेष उससे जो चमत्कार अर्थात् शोभातिशय उसको प्राप्त होते हैं। इस हेतुसे अर्थात् उस राधा विना इन सम्पूर्ण वस्तुओंका संमिलन असंभावित है इससे वोही जो राधा अर्थात् बहुत कालपर्यन्त जिसका अवलोकन किया रहा, सो ही राधा कदंबनिर्मित जो कुञ्ज अर्थात् मण्डप उसके भीतर स्थित है। यहां चिन्तासहकृततादृशसंस्कारसंनिकर्षविभावित और गम्यमुखविकासाद्यनुभावित जो प्रत्यभिज्ञा सो चर्वणाविश्रामस्थान है। अब स्मरणरूपा स्मृतिका उदाहरण " वदनांबुजे " इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि कृष्ण अपने मित्रसे कहते हैं कि राधिकाका मुखरूप जो कमल उसमें लगा है दृष्टिका पतन जिसका ऐसा जो मैं सो बाहुमूलमें कर्णभूषणका बन्धन करतसन्तें किञ्चित् संकुचित हैं नेत्र जिसके

धृतिः सन्तोषो दुःखेप्यदुःखबुद्धिर्वा । विभावा ज्ञानशक्त्यादयः। अनुभावा अव्यग्रभोगादयः। यथा--

भूषा भस्मरजांसि वेश्म विपिनं वृद्धो वृषो वाहनं
चैलं चर्म तथाऽपि मन्मथरिपोर्भोगः किमु भ्रश्यति ।
ईशत्वं किमु हीयते किमु महादेवेति नो गीयते
किं वा तस्य च देवदेव इति वा संज्ञा जनैस्त्यज्यते॥ १७॥

ऐसा और ईषत्हास्यसे विकसित जो राधिकाका मुख उसका मैं स्मरण करताहूं। यहां मुखरूप कमलका संबन्धी जो नेत्र उसमें भ्रमरत्वका सूचन किया। यहां स्मरणसे विलक्षण ज्ञान समझना। यहां चिन्तासे उद्बुद्ध जो संस्कार उससे विभावित और गम्य जो भ्रूको नमाना उससे अनुभावित, जो स्मृति सो चर्वणाविश्रामस्थान है।

अब धृतिका लक्षण कहते हैं। "धृतिः" इत्यादि वाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि सन्तोष अर्थात् इच्छाकी जो पूर्ति सो धृति है। यह जो इच्छाकी पूर्ति सो लाभसे ही होती है और भय, शोकसे नहीं होती है इस हेतु भय, शोकसे उत्पन्न जो धृति है, तत्साधारण लक्षणान्तर कहते हैं कि दुःखदेनेवाली वस्तुमें जो अदुःखबुद्धि अर्थात् अनिष्टाजनकत्वज्ञान सो ही धृति है। यहां इष्टकी विरोधी जो द्वेषविषयक वस्तु सो और इष्टहानि ये दोनों ही अनिष्टशब्दसे जानलेनें। इसके विभाव ज्ञानमें सामर्थ्य इत्यादि हैं। और अनुभाव दुःख विना भोग लेना इत्यादि जानना। अब इसका उदाहरण "भूषा भस्मरजांसि" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि यद्यपि भूषण कहिये अंगराग जो भस्मके रज हैं सो सर्वसुलभ हैं। और बहुवित्तके व्यय और परिश्रमसे साध्य जो कस्तूरीचन्दनादि सो अंगराग नहीं है, तथापि महादेवका भोग अर्थात् सुखानुभव भ्रष्ट होताहै क्या? अपि तु नहीं होताहै। और यद्यपि घर वन है सो स्वतःसिद्ध है कष्टसाध्य जो महल इत्यादि सो घर नहीं है तथापि महादेवकी ईशता अर्थात् जगत्का नियमन करना सो क्या हीन होताहै? अपि तु नहीं होताहै। और महादेका वाहन वृद्ध वृषभहै अर्थात् अज्ञात है जन्मभूमि जिसकी ऐसा नंदिकेश्वर है, उच्चैःश्रवा नहीं है तथापि जनोंसे महादेव अर्थात् सकलश्रेष्ठ ऐसा नहीं कहा जाताहै क्या? अपि तु कहा ही जाताहै। और यद्यपि वस्त्र गजचर्म है और अमूल्य जो शाटी आदि सो नहीं है, तथापि महादेवकी जो देवदेव यह संज्ञा अर्थात् साम्राज्यलक्ष्मीसम्पन्न ऐसा जो नाम सो मनुष्योंसे त्याग किया जाताहै क्या? अपि तु नहीं त्याग

स्वच्छन्दक्रियासंकोचो व्रीडा। न च शंकायां त्रासे चाति-
व्याप्तिस्तत्रतत्र क्रियाविरह एव न तु क्रियासंकोचः।
अत्र विभावा दुराचारादयः। अनुभावाः शिरोनमनवदन-
नयनप्रच्छादनादयः। यथा अयोध्यावर्णने--

भित्तौभित्तौ प्रतिफलगतं भालसिन्दूरबिन्दुं
दृष्ट्वादृष्ट्वा कमलनयना केलिदीपभ्रमेण।
कान्ते चैलं हरति हरितं लोलमालोकयन्ती
गात्रं प्रच्छादयति सहसा पाणिपंकेरुहेण॥ १८॥

इतरेतरक्रियाकरणं क्रियायाः शीघ्रता वा चपलता। मात्स-
र्यद्वेषरागादयो विभावाः। अनुभावा वैरिदर्शनवाक्पारु-
ष्यप्रहारादयः। यथा–

क्रिया जाताहै। यहां गम्य जो विवेक उससे विभावित और चपलताकी शान्तिसे अनुभावित जो धृति सो चर्वणाविश्रामस्थान है। अब व्रीडाका लक्षण कहतेहैं "स्वच्छन्द" इत्यादि वाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि स्वतन्त्र जो क्रिया उस क्रियाके संकोचमें कारणीभूत जो चित्तवृत्ति सो व्रीडा है। ऐसा कहनेसे व्रीडाको आन्तरत्व समझा जाताहै। कोई कहताहै कि क्रियाविरहप्रयोजक जो चित्तवृत्तिविशेष सोही व्रीडा क्यों नहीं मानतेहो? यह कथन युक्त नहीं, क्योंकि ऐसा कहैं तो शंकामें और त्रासमें अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि वहां भी क्रियाविरह है। हमारे लक्षणसे वहां अतिव्याप्ति नहीं होती है, क्योंकि शंका वा त्रासमें क्रियाका अभावही है संकोच नहीं है। इसके विभाव दुराचारादिक हैं। अनुभाव शिरको नीचा करना और वदन, नयन इनका ढकना इत्यादिक हैं। अब व्रीडाका उदाहरण "भित्तौ भित्तौ" इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं। श्लोकार्थ यह है कि अयोध्यावर्णनमें सखीके प्रति सखीकी उक्ति है कि जिस अयोध्या नगरीमें भित्ति भित्तिमें प्रतिबिम्बको प्राप्त जो आपकी मूर्ति उसके मस्तकमें जो सिन्दूरबिन्दु उसको देख देख करिके जो सुरतक्रीडामें दीपकोंका भ्रम उससे प्रकाशित जो कमलनयना सो सहसाही शीघ्रही नायक जो है सो हरितवस्त्रको हरण करत सन्तै चञ्चल जैसे होय तैसे देखती हुई, सर्वप्रकारसे हस्तकमलसे शरीरको आच्छादित करतीहै। यहां नायकके दर्शन और उसके दुराचारसे विभावित, अङ्गके ढकनेसे अनुभावित जो व्रीडा सो चर्वणाविश्रामस्थान है। अब चपलताका लक्षण कहते हैं "इतरेतर" इत्यादि

१ परितः इति पाठान्तरम्।

लंकाचारिणि सेतुकारिणि रणक्रीडाचमत्कारिणि
प्रौढानन्दवचःप्रसारिणि पुरो रामे धनुर्धुन्वति ।
जातास्तस्य दशाननस्य समरप्रारम्भदम्भस्फुरत्-
केयूरक्वणिताऽनुमेयविशिखत्यागाः करश्रेणयः ॥ १९ ॥

चेतःप्रसादो हर्षः । प्रियदर्शनपुत्रजननादयो विभावाः । अनुभावाः पुलकस्वेदाश्रुस्वरभेदादयः । यथा--

पुलकितकुचकुंभपालि राधा व्रजति मुकुन्दमुखेन्दुवीक्षणाय । विरचयति न मध्यभंगभीतिं गणयति नाऽपि नितम्बगौरवाणि ॥ २० ॥

वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि अव्यवधानसे जो दो तीन क्रियाओंको करना अथवा क्रियामें जो शीघ्रता अर्थात् क्रियाकी शीघ्रतामें नियामक जो विजातीय अन्तःकरणवृत्ति सो चपलता है । इसके विभाव मत्सरता और द्वेष और अनुराग इत्यादि हैं । और अनुभाव वैरीका दर्शन अर्थात् शत्रुको हेरना और वचनमें कठोरता और प्रहार इत्यादिक हैं । अब इसका उदाहरण कहतेहैं " लंकाचारिणि " इत्यादि श्लोकसे । इलोकार्थ यह है कि लंकाके सम्मुख जानेमें शीलयुक्त और सेतुका बन्धन करनेवाले और संग्राममें जो क्रीडा उसमें चमत्कारयुक्त और स्वकीय उत्साहसे उत्साहित जो वचन अर्थात् सिंहनादादि उसका उद्घोष करनेवाले ऐसे जो राम सो अगाडी धनुषको धुन्वति अर्थात् प्रत्यञ्चाकर्षणसे टणत्कारशब्दयुक्त करत सन्ते वह अर्थात् त्रिलोकीका जीतनेवाला भी रावण उसके जो वीस हाथ हैं सो संग्रामके आरम्भमें जो दम्भ अर्थात् वीरश्रेष्ठताका अभिमान उससे शोभायमान जो केयूरोंका शब्द उससे अनुमान करनेके योग्य है बाणोंका त्याग जिनसे ऐसे होते भये । यहां धनुर्ध्वनिसे समुद्दीपित जो मात्सर्य उससे विभावित और संपूर्ण भुजाओंसे जो प्रहार उससे अनुभावित जो चपलता सो चर्वणाविश्रामस्थान है ।

अब हर्षका लक्षण कहते हैं " चेतःप्रसादः " इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि चित्तकी जो प्रसन्नता अर्थात् प्रसन्नताका हेतु सुख सो हर्ष है । यह कहनेसे हर्षको आन्तरत्व हुआ सो जानना । इसके विभाव प्रियका दर्शन अर्थात् ज्ञान और पुत्रोत्पत्ति इत्यादि हैं । और अनुभाव रोमाञ्च, प्रस्वेद, अश्रु स्वरभेद इत्यादि हैं । इसका उदाहरण "पुलकित" इत्यादि इलोकसे कहते हैं ,

आकस्मिक इष्टानिष्टोपपातविवर्तः संभ्रमो वा आवेगः । वैरिदर्शनप्रियश्रवणोत्पातादयो विभावाः । अनुभावास्त्वराशरीरस्खलनविपर्यासादयः । यथा–

एको वाससि विश्लथे सहचरीस्कन्धे द्वितीयः करः ।
पश्चाद्गच्छति चक्षुरेकमितरद्भर्तुर्मुखे भ्राम्यति ।
एकं कण्टकविद्धमस्ति चरणं निर्गन्तुमुत्कण्ठते
चान्यद्वैरिमृगीदृशां रघुपतेरालोक्य सेनाचरान् ॥ २१ ॥

श्लोकार्थ यह है कि राधा जो है सो आह्लादकतासे कृष्णका मुखरूप जो चंद्रमा (यहां मुखको चन्द्रमा कहनेसे नेत्रको चकोरत्व ध्वनित होनेसे उत्कण्ठा व्यञ्जित होती है) उसके देखनेके अर्थ जाती है । किस प्रकार कि पुलकित अर्थात् रोमाञ्चयुक्त है कुचरूप कुंभका मण्डल जिस क्रियामें जैसे होय तैसे, इस समयमें मध्यशरीरके भंगका जो डर उसकी गणना नहीं करती है । और नितंबकी जो गुरुता है उसको भी नहीं गिनती है, अर्थात् ध्यानही नहीं करती है । यहां गम्य जो प्रियसमागमश्रवण उससे विभावित और पुलकादिसे अनुभावित जो हर्ष सो चर्वणाविश्रामस्थान है । अब आवेगका लक्षण कहते हैं "आकस्मिक" इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि आकस्मिक अर्थात् विना कारण जो इष्टका वा अनिष्टका आजाना सो है मुख्य कारण जिसका ऐसा जो मनोविकार सो आवेग है परन्तु ऐसा आवेग कहनेसे जडतामें अतिव्याप्ति होगी क्योंकि जडतारूप मनोविकार भी आकस्मिक इष्टानिष्टोपपातसे ही होताहै । इस हेतु दूसरा लक्षण कहते हैं, कि संभ्रम अर्थात् साध्वससे जो प्रवृत्ति सो आवेग है । इसके विभाव वैरीका देखना और प्रियवातका श्रवण और उत्पात इत्यादि हैं । (यहां दर्शनश्रवणसे ज्ञानमात्र समझना) और अनुभाव शीघ्रता और शरीरका गिरना और विपर्यास अर्थात् जो वस्तु नहीं रहै उस वस्तुमें जो अन्यथाबुद्धि सो इत्यादि हैं । अब इसका उदाहरण " एको वाससि " इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि रामचन्द्रकी सेनामें विचरनेवाले वानरोंको देखकरिके वैरी जो राक्षस उनकी मृगीनेत्रसदृशनेत्रयुक्त स्त्रियोंका एक हाथ सो पडतेहुए वस्त्रपर है और दूसरा सखीके कांधेपर है । और एक नेत्र पिछाडी देखता है दूसरा भर्ताके मुखमें भ्रमण करताहै अर्थात् पतिके मुखको वारम्वार देखताहै । और एक पग कांटेसे विंधाहुआ है । दूसर

सकलव्यवहाराक्षमज्ञानवत्ता जडता। न च मूर्छापस्मारनि-
द्रास्वप्नेष्वतिव्याप्तिस्तत्र ज्ञानविरहात्। न चालस्यभीति-
त्रासेष्वतिव्याप्तिस्तत्र कतिपयव्यवहारस्य सत्त्वात्। इष्टा-
निष्टदर्शनादयो विभावा अनुभावा अनवभाषणनिर्निमेष-
प्रेक्षणेष्टानिष्टापरिच्छेदादयः। यथा-

दुष्पारवारिनिधिपारमुदारवीर्य-
मागच्छतो हनुमतो हसित वितेनुः।
उद्वीक्ष्य नीरनिधिनीरमधीरवीचिं
चित्रार्पिता इव पुनः कपयो बभूवुः॥ २२॥

जानेकी इच्छा करताहै। यहां वैरिदर्शनसे विभावित और शीघ्रता, स्खलनसे अनुभावित जो आवेग सो चर्वणाविश्रामस्थान है। अब जडताका लक्षण कहतेहैं "सकल" इत्यादि वाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि कार्य और अकार्य इसका जो विचाररूप ज्ञान उससे भिन्न जो ज्ञान उसकी जो आश्रयता सो जडताहै। यत्किञ्चिद्विषयक जो विचार उससे भिन्न जो ज्ञान उसकी आश्रयताको जडता कहैं तो आलस्य, भीति, त्रास इनमें अतिव्याप्ति होगी क्योंकि ऐसा ज्ञान यहां भी है, इस हेतु सकल पद दिया, तो सकल विवेकसे भिन्न ज्ञान आलस्यादिमें नहीं है क्योंकि वहां कुछ विचार रहताही है इससे अतिव्याप्ति नहीं हुई। विवेकसे रहितत्व ऐसा जडताका लक्षण कहैं तो मूर्छा, अपस्मार, निद्रा स्वप्न इनमें अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि वहां भी विवेकसे रहितत्व है। इस हेतु प्रकृत लक्षण किया तो यहां अतिव्याप्ति नहीं हुई, क्योंकि यहां ज्ञानका ही अभाव है इस हेतु वहां सकलविषयकविवेकभिन्न ज्ञानकी आश्रयता नहीं रहेगी। यद्यपि स्वप्नमें ऐसा ज्ञान रहताहै तथापि इस लक्षणमें मानसभिन्न ज्ञान लियाजाताहै। तो स्वप्नमें ज्ञान है सो मानस है इस हेतु अतिव्याप्ति नहीं होगी। इसके विभाव इष्टज्ञानसहित जो अनिष्टज्ञान इत्यादि हैं। यहां साहित्यसे इष्टज्ञान वा अनिष्टज्ञानकी एक स्थानमें स्थिति जाननी। अथवा इष्टज्ञानरूप अनिष्टज्ञानको इष्टज्ञानसहित अनिष्टज्ञान कहते हैं यह कहनेका अभिप्राय यह है कि इष्ट अनिष्ट दोनों विषयक एक ज्ञान जडताका विभाव है। और अनुभाव भाषणका अभाव, बिना निमेष झांकना इष्टानिष्टका ज्ञान न होना इत्यादि हैं। अब इसका उदाहरण "दुष्पार" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि जो

आत्मनि सर्वाधिकत्वबुद्धिः, सर्वस्मिन्नधमबुद्धिर्वा गर्वः। बलैश्वर्याभिजनलावण्यादयो विभावाः।अनुभावा अवज्ञाभ्रू-दृष्टिचेष्टितहसितपौरुषप्रकाशादयः।यथा परशुरामवाक्यम्—

निष्पीते कलशोद्भवेन जलधौ गौरीपतेर्गङ्गया
होतुं हन्त वपुर्ललाटदहने यावत्कृतः प्रक्रमः।

कपि अर्थात् वानर जे हैं ते दुःखकरिके प्राप्त होनेके योग्य है पार जिसका ऐसा जो समुद्र उसके तीरके प्रति 'उदारवीर्यम्' अर्थात् प्रकटीभूत है बल जिस क्रियामें जैसे होय तैसे आतेहुए हनुमानसे हसितको विस्तारित करते भये। सो ही वानर अधीर अर्थात् चञ्चल हैं तरंग जिसमें ऐसे समुद्रके जलको देख करिके तो चित्रार्पितकी तरह अर्थात् निश्चेष्टतासे बुद्धिके विषय होते भये। यहां हनुमान् और समुद्रका जल दोनोंके दर्शनसे विभावित और निश्चेष्टतासे अनुभावित जो जडता सो चर्वणाविश्रामस्थान है॥

अब गर्वका लक्षण कहते हैं "आत्मनि" इत्यादिवाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि आपमें जो सबसे अधिकता बुद्धि अर्थात् मैं सबसे अधिक हूं ऐसी प्रतीति सो गर्व है। अथवा सम्पूर्ण जगत्में जो आपसे अधमताबुद्धि अर्थात् हमारी अपेक्षा सब अधम हैं ऐसी प्रतीति सो गर्व है। यहां यह विचार करना चाहिये कि आपमें सबकी अपेक्षासे अधिकताबुद्धि रहनेपर सबमें आपकी अपेक्षा अधमताबुद्धि भी अर्थसिद्ध है फिर दूसरा लक्षण कहना योग्य नहीं इसही रीतिसे सम्पूर्णमें अधमताबुद्धि रहनेपर आपमें अधिकताबुद्धि अर्थसिद्ध है। ऐसे भी दूसरा लक्षण नहीं करना चाहिये। ऐसा हुआ तो दो लक्षणमें तात्पर्य नहीं समझना चाहिये किन्तु एकही लक्षणमें तात्पर्य समझना चाहिये, अर्थात् प्रथम लक्षण कहो किंवा द्वितीय लक्षण कहो इसमें आग्रह नहीं। जब एकही लक्षण होगा तब वाशब्दका प्रयोग व्यर्थ होजायगा इस हेतु समानबलमें विरोधरूप जो विकल्प सो गर्व है यह वाशब्दार्थ है ऐसा वाशब्दका अर्थ न कहैं तो दोका जो एक स्थानमें निवेश किया है तहां एक व्यर्थ होजायगा तो वाकार निरर्थक होजायगा सो जानना। इसके विभाव बल, ऐश्वर्य, कुलीनता, लावण्य इत्यादि हैं और अनुभाव अनादर और भ्रू तथा नेत्रकी चेष्टा और हँसना और पौरुषका प्रकाश इत्यादि हैं। इसका उदाहरण "निष्पीते" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि परशुराम कहते हैं कि अगस्त्यमुनिके समुद्र पीनेपर गंगाने महादेवके अग्निरूप तृतीय नेत्रमें शरीरको हवन करनेको जबतक उद्योग किया तब तक मैंने समुद्रप्रदेशमें शत्रुओंकी नगरीकी जो स्त्रियां

तावत्तत्र मया विपक्षनगरीनारीदृगम्भोरुह-
द्वन्द्वप्रस्खलदश्रुवारिपटलैः सृष्टाः पयोराशयः ॥ २३ ॥

इष्टसंशयोऽनिष्टजिज्ञासा वा विषादः। इष्टपदेन जीवनधन-यशःशरीरपुत्रकलत्रादयः। विभावा अपराधधनगमनादयः। अनुभावा उत्तमानां सहायान्वेषणोपायचिन्तादयः, मध्यमानां विमनस्कता, अधमानामिष्टध्यानधावनमुखशोषनिद्राश्वासादयः । यथा-

प्रत्यावृत्त्य यदि व्रजामि भवनं वाचां भवेत्प्रच्यवो
निर्गच्छामि निकुञ्जमेव यदि वा को वेद किं स्यादितः।
तिष्ठाम्येव यदि क्वचिद्वनतटे किं जातमेतावता
मध्ये वर्त्म कलानिधेः समुदयो जाताः किमातन्यताम् २४॥

उनके नेत्ररूप कमलयुगलसे पडता हुआ जो अश्रुरूप जल उसके समूहोंसे समुद्र सृजदिये । यहां बलैश्वर्यादिसे विभावित पौरुषप्रकाशाऽनुभावित जो गर्व सो चर्वणाविश्रामस्थान है । अब विषादका लक्षण कहते हैं " इष्टसंशयः" इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि इष्टका संशय अथवा अनिष्टका विचार सो विषाद है । यहां वाशब्दका यह अर्थ है कि दोनोंमें अन्यतर एक लक्षण समझना । यहां इष्ट पदसे इच्छाविषयमात्रका ग्रहण है । ऐसा हुआ तो इष्टपदसे जीवन, धन, यश, शरीर, पुत्र, कलत्रादि संपूर्ण इच्छा विषय जानना। इसके विभाव राजा वा गुरु इनका अपराध और धनका जाना इत्यादि हैं। और अनुभाव उत्तम पुरुषोंका सहायान्वेषण अर्थात् हमारा कौन सहाय करेगा ऐसे सहायका हेरना और उपाय अर्थात् हेतुकी चिन्ता करना है। और मध्यम पुरुषोंका विमनस्कता अर्थात् अप्रसन्नता है। और अधम पुरुषोंका इष्टका ध्यान और धावन अर्थात् गमन मुखका शोष और निद्रा और श्वास इत्यादि हैं। अब इसका उदाहरण "प्रत्यावृत्त्य" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि कृष्णाभिसारिकाका वचन है कि मार्गके मध्यमें चन्द्रमाका उदय होगया; अब क्या करिये। यदि उलट करिके घरको जातीहूं तो वचनका प्रच्यव अर्थात् प्रतिज्ञाहानि होजावे (अवश्य मैं आऊँगी यह जो कान्तके प्रति वचन सो [मिथ्या होजायगा) और यदि इस स्थानसे निकुञ्जहीको

औत्सुक्यं कालासहिष्णुता सकलेन्द्रियाणामेकदैव क्रियारम्भो वा । प्रियसंस्मरणादयो विभावाः । अनुभावास्तन्द्रागात्रगौरवादयः । यथा--

आद्यः कैरपि केलिकौतुकमनोराज्यैर्द्वितीयः पुन--
र्मल्लीकेसरचारुचम्पकनवाम्भोजस्रजां गुम्फनैः ।
काञ्चीकुण्डलहारहेमवलयन्यासैस्तृतीयस्ततो
नीतः सुन्दरि वासरस्य चरमो यामः कथं यास्यति ॥२५॥

जाऊँ तो क्या अनर्थ होय यह बातको न जानता है अर्थात् कोई नहीं जानता है । मैं तो अत्यन्तही नहीं जानती हूं । यदि इन दोनों स्थलोंसे भिन्न जो कोई वनतट है तहां उक्त दोनों स्थलोंके संकटसे उदासीनताको प्राप्त होकरिकै ठहर जातीहूं तो इससे क्या होगा ? अपितु कुछ नहीं होगा । इस पदका अभिप्राय यह है कि इष्टकी अप्राप्ति और अनिष्टकी प्राप्ति दोनों स्थित ही रहीं । यहां अभिसरणरूप अपराधसे विभावित और अनिष्टनिवारणचिन्तासे अनुभावित जो विषाद सो चर्वणाविश्रामस्थान है । अब औत्सुक्यका लक्षण कहते हैं "**औत्सुक्यम्**" इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि प्रियप्राप्तिमें विलम्ब मत हो ऐसी जो इच्छा सो औत्सुक्य । अथवा सम्पूर्ण इन्द्रियोंका एककालमें ही जो व्यापार उसकी जो उत्पत्ति सो होय जिससे ऐसी जो वह, सो हमको इसही समय प्राप्त होय इस इच्छाके अनुरूप अन्तःकरणवृत्ति सो औत्सुक्य है । इसके विभाव प्रियका स्मरणादिक हैं । और अनुभाव तन्द्रा और शरीरकी गुरुता इत्यादि जानना ।

इसका उदाहरण "आद्यः कैः" इत्यादि श्लोकसे अहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि हे सुन्दरि! अर्थात् हे सखि ! दिनका प्रथम प्रहर जो है सो तो कोई अर्थात् हममात्रका प्रत्यक्षविषय जो केलिकौतुकमनोराज्य अर्थात् क्रीडाका जो चमत्कार उसके जो मनोरथ उनसे व्यतीत किया । और द्वितीय प्रहर मल्ली जो मालती उसका जो केसर अर्थात् पुष्प और सुन्दर चम्पा और नवीन जो कमल इनके जो हार उनके गूंथनेसे व्यतीत किया । और तृतीय प्रहर कमरमें कणगती और कानमें कुण्डल और वक्षःस्थलमें हार और हाथोंमें सुवर्णके कंकण इनके स्थापनसे व्यतीत किया । अब चतुर्थ प्रहर किस प्रकार व्यतीत होगा ? अर्थात् अब

इतरदिन्द्रियमपहाय मनस्त्वचि यदा वर्तते तदा निद्रा ।
सुप्तस्य कारणत्वात्सुप्तात्प्राङ् निद्रा भरतेनोक्ता । स्वप्नवह-
नाडिकायां मनो यदा वर्तते तदा स्वप्नादिसम्भवः । तत्र
विभावाः स्वभावचिन्ताऽऽलस्यक्लमादयः । अनुभावाः
पार्श्वकरणनयनभ्रूचलनविभ्रमवचनस्वप्नदर्शनादयः । यथा-
गच्छन्कच्छं तपनदुहितुः पिच्छगुच्छावतंसः
पश्यन्नस्मद्वदनमसकृच्चक्षुषा कुञ्चितेन
स्निग्धापाङ्गः शिथिलचरणः स्तोकविस्पष्टहासः
स्वप्ने दृष्टः कमलकलिकामण्डनो मेघखण्डः ॥ २६ ॥

कोई प्रसङ्ग नहीं है । यह कहनेसे चिन्ता व्यञ्जित की । यहां व्यंग्य जो प्रियसमागम और उससे विभावित गात्रगौरव तथा चिन्तासे अनुभावित जो औत्सुक्य सो चर्वणाविश्रामस्थान है ।

अब निद्राका लक्षण कहते हैं "इतरदिन्द्रियम्" इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि और इन्द्रियोंका त्याग करिकै मन जो है सो त्वचामें जिस समय जाताहै उस समयका जो अन्तःकरणवृत्तिविशेष सो निद्रा है । यह निद्रा सुप्तका कारण है इस हेतु सुप्तरूप व्यभिचारिभावसे पहले भरत मुनिने इसका कथन कियाहै । इसही निद्रामें स्वप्नवहनाडिकामें जब मन चला जाताहै तब स्वप्नका संभव होताहै । इसके विभाव स्वभाव अर्थात् तामस और चिन्ता और आलस्य और ग्लानि इत्यादि जानना । और अनुभाव पार्श्वकरण अर्थात् शरीरको पलटना और नेत्र, भ्रू इनका चलाना और भ्रमयुक्त वचन और स्वप्नदर्शन इत्यादि जानना । इसका उदाहरण "गच्छन्कच्छम्" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि सखीके प्रति राधाका वचन है कि हे सखि ! मैंने कमलकी कलीसे शोभित जो मेघखण्ड अर्थात् घनसमूह उसको स्वप्नमें देखा । कैसा है वह मेघखण्ड सो कहते हैं कि यमुनाके तटको जाताहुआ ऐसा, और मयूरके जो पंख उनका जो समूह सो है आभूषण जिसका ऐसा, और वारम्वार कुटिल नेत्रसे मेरे वदनको देखता हुआ ऐसा, और प्रेमयुक्त है कटाक्ष जिसका ऐसा, और आलस्य युक्त है चरणकमल जिसका ऐसा, और अल्प जैसे होय तैसे प्रकट है हास जिसका ऐसा । यहां चिन्तासे विभावित और स्वप्नदर्शनसे अनुभावित जो निद्रा सो चर्वणा-

ग्रहाद्यावेशोऽपस्मारस्तत्र विभावाः। अपावित्र्यशून्यगृह-स्थितिधातुवैषम्योत्कटदुःखभयादयः अनुभावाः। कम्पफेननिःश्वासभूपतनविपर्यासजिह्वालोलनादयः। यथा—

उद्वेलन्नवपल्लवाधररुचः पर्यस्तशाखाभुजाः
स्फूर्जत्कोरकफेनबिन्दुपटलव्याकीर्णदेहश्रियः।
भ्राम्यद्भृङ्गकलापकुन्तलजुषः श्वासानिलोत्कम्पिताः
शैलं प्रेक्ष्य कपेर्निपातितमपस्मारं दधुर्भूरुहाः ॥ २७ ॥

मूर्च्छा चात्रैवान्तर्भवति। त्वचमपि विहाय मनः पुरीततीं वर्तते तदा सुप्तम्। निद्रा विभावः। अनुभावा नेत्रनिमीलनप्रलयश्वासोच्छ्वासादयः। यथा—

विश्रामस्थान है अब अपस्मारका लक्षण "ग्रहाद्यावेशः" इत्यादि वाक्यसे कहतेहैं। वाक्यार्थ यह है कि भूतके सञ्चारादिसे उत्पन्न जो व्याधिविशेष सो अपस्मार है इसके विभाव अपवित्रता और शून्यघरमें स्थिति और धातुकी विषम अवस्था और अधिक दुःख इत्यादि हैं। अनुभाव कम्प, झाग, निःश्वास, पृथिवीमें पडना, भ्रान्ति, जिह्वाकी चञ्चलता इत्यादि हैं। इसका उदाहरण "उद्वेलन्" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि इधर उधर चलते हुए जो नवीन पत्ते वे हीहैं। अधरोष्ठसदृश जिनके ऐसे, और प्रसारित जो शाखा सोही हैं बाहु जिनके ऐसे, और प्रकाशमान जो कलियां वेही हुआ झागजल उसके समूहसे व्याप्त है देहकी कान्ति जिनकी ऐसे, और बिखरे हुए जो भ्रमर उनका जो समूह सोही हुआ केशपाश उससे युक्त, और श्वासरूप वायुसे उत्कृष्टकम्पयुक्त ऐसे जो द्रोणाचलके वृक्ष वे कपिके पाससे भरतने पटक्या ऐसे पर्वतको देखकरिके अपस्मार जो उच्चैःपतन उसको धारण करते भये। यहां पर्वतमें आरोप्यमाण जो दुःख उससे विभावित और वास्तविकभूनिपातसे अनुभावित ऐसा जो आहार्यारोप विषयीभूत अपस्मार सो चर्वणाविश्रामस्थान है ॥ मूर्च्छा पृथक् व्यभिचारिभाव नहीं है किन्तु अपस्मारका ही नाम है सो जानना।

अब सुप्तका लक्षण कहतेहैं "त्वचमपि" इत्यादि वाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि त्वचाका भी त्याग करिकै जब मन पुरीततीनामकी नाडीमें स्थित होताहै वह ही जो पुरीततीनाडीका और मनका संयोग सो सुप्त है। इसका विभाव निद्रा है और

श्वासोच्छ्वासंप्रचलदधरोपान्तमामीलिताक्षं
क्रीडाकुञ्जे तपनदुहितुः सुप्यतः श्रीमुरारेः ।
अन्तःस्मेरं निभृतनिभृतं काऽपि कर्णावतंसं
काचिद्बाह्वोः कनकवलयं दाम मुष्णाति काचित् ॥ २८ ॥

इन्द्रियाणां प्रथमप्रकाशो विबोधः । निद्राच्छेदो विभावः । अनुभावा अङ्गाकृष्टिजम्भाऽक्षिमर्दनांगुलीमोडनादयः ।

यथा-

राधायाः सहसा दृशा कुवलयद्रोणीदरिद्रं नभः
कुर्वन्त्याः कलकण्ठकण्ठनिनदैः सांकेतिकैर्जाग्रतः ।
अङ्गाकृष्टिविवर्तमानवपुषो देवस्य कंसद्विषो
लोलापांगतरंगभंगचतुर नेत्राम्बुजं पातु नः ॥ २९ ॥

अनुभाव नेत्रका मींचना और प्रलयनाम सात्त्विकभाव और श्वास ऊर्ध्वश्वास इत्यादि हैं। इसका उदाहरण-"श्वासोच्छ्वास" इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं । श्लोकार्थ यह है कि श्वासके आधिक्यसे अथवा श्वास और ऊर्ध्वश्वास दोनोंसे कम्पमान है अधरका समीपभाग जिस क्रियामें जैसे होय तैसे और सर्वप्रकारसे, मींच्ये हैं दोनों नेत्र जिस क्रियामें जैसे होय तैसे यमुनाके क्रीडाकुञ्जमें सुप्यत अर्थात् स्वापछलको करते हुए ऐसे, अथवा शयन करते हुए श्रीकृष्णका अत्यन्त मन्द हास है जिस क्रियामें जसे होय तैसे, कोई गोपी तो कर्णके भूषणको, कोई गोपी बाहुके स्वर्णकंकणको, कोई गोपी हारको चोरतीहै । यहां शयन विभावित श्वासाद्यनुभावित चेतोमिलनरूप सुप्तचर्वणाविश्रामस्थान है ।

अब विबोधका लक्षण कहतेहैं "इन्द्रियाणाम्" इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि ज्ञानोपयोगी इन्द्रियोंका जो प्रथम प्रकाश सो विबोध है। इसका विभाव निद्राका नाश है । अनुभाव अंगाकृष्टि, जृम्भा, नेत्रमर्दन, अंगुलियोंका मोडना इत्यादि जानना । इसका उदाहरण-"राधाया" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि दृष्टिसे अर्थात् कमलत्वसे अध्यवसित नेत्रका जो द्रोणी कहिये मुद्रण ताकरिकै रहित ऐसे नभ अर्थात् क्रीडामण्डपके आकाशको करती हुई जो राधा उसका जो कलकण्ठनिनद अर्थात् कोकिलशब्दत्वसे अध्यवसित राधाहुंकारादिक तद्रूप जो संकेतकृत

पराहंकारप्रशमोत्कटसमीहाऽमर्षः। विभावा अवमानाऽधि-क्षेपादयः। अनुभावाःस्वेदशिरःकम्पननयनाऽऽरुण्यादयः। यथा—

अद्याज्ञा नैव भर्तुः सरसिजनयनासूनुसेनासमेतं
बद्धा लांगूलमूले दशमुखमभितो भूतले भ्रामयामः।
शश्वन्मार्गावलोकप्रचलनयनया सीतया साकमेनां
लङ्कामुत्पाट्य किं वा रघुपतिचरणाम्भोजयोर्योजयामः॥३०

आकारव्यवहार[1]संगोपनमवहित्थम्। विभावा व्रीडाधार्ष्ट्य-कौटिल्यगौरवादयः। अनुभावा अन्यथाकरणाऽन्यथाप्रे-क्षणान्यथाकथनादयः। यथा—

चेष्टाएं उनसे जागते हुए अर्थात् निद्राका त्याग करतेहुए ऐसे और कंसके शत्रु औ क्रीडाविट ऐसे, और अंगके आकर्षणसे उलट पुलट होरहा है शरीर जिनका ऐसे श्रीकृष्णका चञ्चल जो अपांग तरंग कहिये नेत्रच्छटा उसका जो भंग कहिये रचना उसमें चतुर अर्थात् कुशल जो नेत्ररूप कमल सो हमारी रक्षा करो। यहां निद्राच्छेदसे विभावित अंगाकर्षणसे अनुभावित विबोध चर्वणाविश्रामस्थान है।

अब अमर्षका लक्षण कहतेहैं "पराहङ्कार" इत्यादि वाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि परके अहंकारको प्रणाशके निमित्त जो अत्यन्त इच्छा सो अमर्ष है। इसके विभाव निन्दा और अधिक्षेप अर्थात् सभामें तिरस्कार इत्यादि हैं। और अनुभाव प्रस्वेद शिरका कम्पन नेत्रकी रक्तता इत्यादि हैं। अब इसका उदाहरण "अद्याज्ञा नैव" इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं। श्लोकार्थ यह है कि हनुमान् वानरोंके प्रति कहते हैं कि इस समय रामचन्द्रकी आज्ञा नहीं है, यदि होती तो कमलनयना जो मन्दोदरी और सूनु जो मेघनादादि और सेना इन सबसे युक्त ऐसे रावणको पुच्छमें बांधकरिके सम्पूर्ण प्रकारसे पृथिवीमें फिरावैं किंवा निरंतर रामचन्द्रके मार्गके देखनेके लिये चलायमान हैं नेत्र जिसके ऐसी जो सीता उनके साथ इस लंकाको उपाडकरके रामके चरणारविन्दोंमें मिलावैं। यहां गम्य जो राक्षसकृत तिरस्कार उससे विभावित और कठोर उक्तिसे अनुभावित अमर्ष चर्वणाविश्रामस्थान है॥ अब अवहित्थका लक्षण कहते हैं "आकार"

---

[1] विहारेति पाठान्तरम्।

त्यक्त्वा सद्म विभीषणः स गतवान्बद्धः स पाथोनिधिः
किञ्चित्क्रुध्यति सोऽपि सारणिरतः सीता परित्यज्यताम् ।
इत्याकर्ण्य सुहृद्गणस्य वचनं स्मेराननो रावणो
मुक्तादाम करेण कण्ठसविधे कीरस्य विन्यस्यति ॥ ३१ ॥
उग्रता निर्दयता । विभावा अपराधदोषकीर्तनचौर्यादयः ।
अनुभावास्तर्जनताडनादयः । यथा-

इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि निर्वेदादि जो व्यभिचारिभाव उसका कार्य जो मुखप्रसन्नतादिक सो कहिये आकार और वैसाही जो प्रियभाषणादि सो कहिये व्यवहार उन दोनोंका जो संगोपन अर्थात् छिपानेके अनुकूल अन्तःकरणवृत्ति सो अवहित्थ है । इसके विभाव-लज्जा, धृष्टता, कुटिलता, गुरुता इत्यादि हैं । और अनुभाव-और प्रकार करना, और प्रकार झांकना, और प्रकार बोलना इत्यादि हैं । इसका उदाहरण " त्यक्त्वा सद्म" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि सः कहिये वह अर्थात् बन्धु भी जो विभीषण सो घरको त्याग करिके चला गया । और सः कहिये वह अर्थात् जिसका बन्धन कभी कोई नहीं करसका ऐसा भी जो समुद्र सो बांधा गया । अर्थात् वहां भी सेतुबन्धन कर दिया । और वह अर्थात् पत्नीबन्धुभी जो सारणि सो भी कुछ क्रुद्ध होताहै अर्थात् परस्त्रीके हरणको नहीं सहता है इसकारणसे सीता जो है सो त्याग करनेके योग्य है । इस प्रकार बन्धुगणके वचनको सुन करिके स्मेरानन अर्थात् सुहृद्गणके वचनकी अवज्ञा की है जिसनें अत एव स्मितयुक्त है मुख जिसका ऐसा जो रावण सो सुहृद्गणोंमें जो कोप उसके परिहारकी इच्छासे आपके हास्यको अन्यसम्भूत जनानेके लिये मोतियोंकी मालाको हाथसे शुकके कण्ठके समीपमें पटकता है अर्थात् शुकके सम्मुख उस मालाको कर देताहै । (यह कहनेका यह अभिप्राय है कि दाडिमबीज जान करिकै कोई स्थानमें पकडता है वा नहीं पकडताहै यह परीक्षा करनेके निमित्त उसके समीप मालाको धरताहै) यह राक्षसोंकी परस्पर उक्ति है । यहां गम्य धृष्टतासे विभावित और प्रकार करनेसे अनुभावित जो गर्वादिकार्यभूत मुखविकासादिका संगोपनफलक अवहित्थ सो चर्वणाविश्रामस्थान है ।

अब उग्रताका लक्षण कहतेहैं " उग्रता " इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि प्रचण्ड क्रियाकी कारणीभूत जो इसका मैं क्या करूं ऐसी इच्छा

कोदण्डं रणभिन्नभूपतिभुजादंडैः प्रचण्डैः कृतं
तत्र ज्या प्रतिपक्षराजरमणीवेणीगुणैर्गुम्फिता।
क्रूराकारकुठारतारपतनप्रभ्रष्टदुष्टद्विप-
त्रुटयद्दन्तदलैः कृतोस्ति विशिखस्तल्लक्ष्यमुद्वीक्ष्यते॥३२॥

यथार्थज्ञानं मतिः। अत्र विभावाः शास्त्रचिन्तनादयः। अनुभावाः शिष्योपदेशभ्रूक्षेपकरचालनचातुर्यादयः। यथा-

लाटीनेत्रपुटीपयोधरघटीक्रीडाकुटीदोस्तटी-
पाटीरद्रुमवर्णनेन कविभिर्मूढैर्दिनं नीयते।

सो उग्रता है। इसके विभाव-आपका अपराध और दोषकीर्तन और धनका हरण इत्यादि हैं। अनुभाव डरपाना, ताडनाकरना इत्यादि हैं। इसका उदाहरण-" **कोदण्डम्** " इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि रामके प्रति परशुरामकी उक्ति है कि रणमें मृत जो राजा उनके जो प्रचण्ड बाहुदण्ड उनसे धनुष किया है। और तहां शत्रु राजाओंकी जो स्त्री उनकी जो वेणी तद्रूप जो तन्तु उनसे प्रत्यश्चा बनाई है। और कठोर है स्वरूप जिसका ऐसा जो परशु उसका जो ऊंचेसे पडना उससे प्रभ्रष्ट अर्थात् कोपयुक्त जो दुष्ट हस्ती उनके जो टूटते हुए दन्ततल उनसे बाण कियाहै। ऐसे बाणका जो लक्ष्य अर्थात् निशाना है सो हेरा जाताहै। यहां व्यंग्य जो धनुर्भंगरूप अपराध उससे विभावित तर्जनसे अनुभावित जो उग्रता सो चर्वणाविश्रामस्थान है॥ अब मतिका लक्षण कहते हैं "यथार्थ" इत्यादि वाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि यथार्थ जो ज्ञान सो मति है। इसके विभाव शास्त्रका चिन्तन इत्यादिक हैं। और अनुभाव शिष्यके प्रति उपदेश, भ्रुकुटीका चलाना और हाथोंका चलाना और चतुरता इत्यादि हैं। इसका उदाहरण-" लाटी " इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं। श्लोकार्थ यह है कि मूढ अर्थात् शास्त्रचिन्तारहित कवि लाटदेशकी नायिकाका नेत्रयुग, कुचकलश, क्रीडाका घर, बाहुका विस्तार, चन्दनका कर्दम इनके वर्णनसे दिन जो है सो बिताते हैं। और तदेकमन अर्थात् अव्यभिचारिभक्तियुक्त जो पुरुष अर्थात् हम सब हैं उनका समय तो गोविन्द! जनार्दन! जगतोंके नाथ! कृष्ण! ऐसे कथनोंसे व्यतीत होताहै। यहां शास्त्रचिन्तासे विभावित, चातुर्यसे अनुभावित जो मति सो चर्वणाविश्रामस्थान है॥

गोविन्देति जनार्दनेति जगतां नाथेति कृष्णेति च
व्याहारैः समयस्तदेकमनसां पुंसां परिक्रामति ॥ ३३ ॥

नयविनयाऽनुनयोपदेशोपालम्भा अत्रैवान्तर्भवन्ति । उपदेशो यथा-

वसु प्रदेयं खलतोऽवधेयं मनो निधेयं चरणे हरस्य ।
निजं विधेयं कृतिभिर्विधेयं विधेर्विधेयं विधिरेव वेत्ति ॥३४॥

उपालम्भोऽपि द्विविधः-प्रणयात्मा कोपात्मा च । प्रणयात्मा यथा-

पाषाणे यदि मार्दवं यदि पयोधारा हुताशोदरे
व्यालीनां वदने सुधा यदि स्वेर्गर्भे हिमानी यदि ।

नीतिशास्त्रसिद्ध अर्थज्ञानरूप जो नय और लोकव्यवहारका अनुवर्तनरूप जो विनय और आपके अभिलापका ज्ञापनरूप जो अनुभव और उपदेश और उपालम्भ इन सबका मतिमें ही अन्तर्भाव है इस हेतु नय आदिक अधिक व्यभिचारिभाव हैं, यह शंका नहीं करनी । नय आदि तीनोंका उदाहरण उपदेशके उदाहरणमेंही गतार्थ है इस हेतु उपदेशका उदाहरण कहते हैं "वसु प्रदेयम्" इत्यादि श्लोकसे । श्लोकार्थ यह है कि धन दानकरनेके योग्य है । और दुष्ट जनसे सावधानतासे स्थिति करनेके योग्य है । और भगवान् शिवके चरणारविन्दमें मन जो है सो स्थापन करनेके योग्य है । और कृती अर्थात् कुशल पुरुषोंने निज अर्थात् आपके अविकारितासे विधिबोधितक्रिया विधेय है अर्थात् करनेके योग्य है । और विधिका अर्थात् दैवका जो विधेय अर्थात् प्राप्त करनेके योग्य फल उसको तो विधि अर्थात् ब्रह्मा ही जानता है । यह कहनेसे कर्मफलेच्छापरित्यागपूर्वक जो विहित कर्मका करना सो उपदेशयुक्त है सो जानना ॥

उपालम्भ अर्थात् निन्दा दो प्रकारकी है एक तो प्रणयपूर्वक निन्दा, दूसरी कोपपूर्वक निन्दा । तहां प्रणयपूर्वक निन्दाका उदाहरण "पाषाणे" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि कोई स्त्री अपने प्रियका स्वप्नमें अवलोकन करिकै विरहसे व्याकुल होकरिके तुम्हारे समागमवशसे मेरी यह दुःखित अवस्था होगई है यह बात अपने पतिको कहनेके अर्थ कामदेवको उपालम्भ देती है कि हे स्मर! भूमिपाल! हे भगवन्! क्रोधसे व्यर्थ क्यों दौडते हैं अर्थात् बहुत स्थानका आक्र-

स्थैर्यं किञ्च समीरणे यदि तदा स्वप्ने भवेत्सत्यता
किं नाम स्मरभूमिपाल भगवन् क्रोधान्मुधा धावसि॥३५॥

कोपात्माऽमर्ष एवान्तर्भवति। यथा--

जनयसि जगदेव देव देवाभरण सुधारसशीतलं सुधांशो।
उरसि वहसि मे तथाऽपि तापं यदुपतिवक्त्रसखाऽसि किं
ब्रवीमि ॥ ३६ ॥

ज्वरादिविकाराख्यो व्याधिः। कुपितधातुभयकामक्लेशा-
द्यो विभावाः। अनुभावा दशोपद्रवाः। यथा--

दातुं स्वीयमनर्घ्यदीधितपदं तस्याः कुरङ्गीदृशः
केयूरं कनकांगुलीयकमिवानेतुं बहिर्गच्छति।

मण क्यों करतेहो? हमारे कहनेको सुनो, कि यदि पत्थरमें कोमलता होय, अग्निमें जलकी धारा होय, सर्पिणीके मुखमें अमृत होय, सूर्यमें खूब ठण्डापना होय, वायुमें स्थिरता होय, तो स्वप्नमें सत्यता भी होय। इसका यह अभिप्राय है कि स्वप्नदर्शनमात्रसे क्यों दुःख देतेहो। यहां नायकका हृदय अतिकठिन है यह व्यंग्य जानना। कोपपूर्वक जो निन्दा है सो अमर्ष विना नहीं होताहै इस हेतु इसका अमर्षमें अन्तर्भाव है। इसका उदाहरण "जनयसि" इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं। श्लोकार्थ यह है कि चन्द्रमाके प्रति नायिकाकी उक्ति है कि हे देव देव जो महादेव उनके आभूषण! अर्थात् मस्तकके अलंकरण! ऐसा सम्बोधन देनेसे आप महाजन स्वीकृत हो यह सूचित हुवा। और अमृतकिरणयुक्त! तू जगत्को सुधारससे शीतलही करता है। इस रीतिसे दोनोंही प्रकारसे उत्तम है तौभी मेरे हृदयमें ताप करताहै परन्तु श्रीकृष्णका मुख तेरा मित्र है इस हेतु मैं क्या कहूं। अनौचित्यसे कुछ नहीं कह सकतीहूं। यह जो चन्द्रमाका उपालम्भ सो कृष्णके उपालम्भमें पर्यवसन्न है॥ अब व्याधिका लक्षण कहते हैं "ज्वरादि" इत्यादि वाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि ज्वरादिसे उत्पन्न जो मानस विकार सो व्याधि है। यहां ज्वरके जो कारण हैं धातुका कोप, भय, श्रम, क्लेश इत्यादि वेही इसके विभाव हैं। और अनुभाव दश उपद्रव हैं। १ अभिलाष, २ स्मृति, ३ चिन्ता, ४ मरण, ५ गुणकीर्तन, ६ व्याधि, ७ प्रलाप, ८ उन्माद, ९ जड़ता, और १० उद्वेग। यहां व्याधिशब्दसे शरीरका सन्ताप, कृशता आदि जानना॥

इसका उदाहरण "दातुम्" इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं। श्लोकार्थ यह है कि उस

अन्यत्कृष्ण ! निवेदयामि किमितो वेणीमिषात्कालियो
दृष्ट्वा लोचनवारि कालियसरोभ्रान्त्या परिभ्राम्यति ॥ ३७ ॥

विना विचारमाचार उन्मादः । न चागम्यागमनेऽतिव्याप्तिः । विना विचारमितिपदेन तद्व्यावर्तनात् । तत्र सुखमुद्देश्यम्, तदंशे विचार एव क्रिया न समीचीनेत्यन्यदेतत् । अप्रेक्ष्यकारिता उन्माद इति यस्य मतं तत्रेदं दूषणम् । तत्र विभावाः प्रियवियोगविभवभ्रंशादयः । अनुभावा वृथालपितवृथाहसितवृथारोदनादयः । यथा-

---

मृगीसदृश नेत्रवालीका जो केयूर अर्थात् बाहुका भूषण सो आपका जो उज्ज्वल कान्तियुक्त स्थान अर्थात् बाहु उसको देनेके अर्थ सोनेकी जो अंगूठी उसको बुलानेको ही मानो बाहर जाता है, इससे देहमें अत्यन्त कृशता व्यञ्जित हुई । हे कृष्ण ! और क्या उसके दुःखका निवेदन करूं कि वेणीके छलसे कालिय सर्प जो है सो लोचनके जलको देखकरके यमुना सरोवरकी भ्रान्तिसे चारों तरफ भ्रमण करताहै । यहां कामसे विभावित कृशतादिसे अनुभावित व्याधि चर्वणाविश्रामस्थान है ॥

अब उन्मादका लक्षण कहतेहैं "विना विचारम्" इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि विना विचार अर्थात् सुखको उद्देश्य किये विना जो आचरण सो ही है फल जिसका ऐसा मनोविकार सो उन्माद है । यहां आचरणका विशेषण जो (सुखको उद्देश्य किये विना) है सो न करैं तो अगम्य जो स्त्री अर्थात् नहीं गमन करने योग्य जो गोत्रादिकी स्त्री तहां जो गमन वह भी आचरणरूप है अतः यह मनोविकारभी उन्माद कहावेगा, तो वहां अतिव्याप्ति होगी, इस हेतु सुखको उद्देश्य किये विना यह विशेषण दिया, तो अगम्यागमनरूप जो आचरण सो सुखको उद्देश किये विना नहीं होताहै, इस कारण इसके आचरण हेतु मनोविकारमें अतिव्याप्ति नहीं हुई । यह जो आचरण है सो समीचीन है वा असमीचीन है यह कथा दूसरी है । कोई कहते हैं कि बलवान् जो अनिष्ट उसकी साधनता बुद्धिको उत्पन्न न होने दे ऐसी जो अन्तःकरणकी वृत्ति सो उन्माद है इसही को अप्रेक्ष्यकारिता कहते हैं । यह जिनका मत है, उनके मतमें अगम्यागमनफलक जो मनोवृत्ति है तहां अतिव्याप्ति होगी, इस हेतु यह उन्मादका लक्षण नहीं

नैषा काऽपि चकास्ति काञ्चनलता सैवास्ति मे राधिका
पृष्टा चेन्न कुतोऽपि जल्पति तदा संमूर्छिता वर्तते ।
इत्थं हन्त विचिन्त्य सिञ्चति मुहुर्नीरैरधीरैरीशो
वातं व्यातनुते करेण भुजयोराधाय सम्भाषते ॥ ३८ ॥

प्राणनिष्क्रमणं निधनम्। विभावाऽनुभावौ स्पष्टौ। यथा—

पर्यस्तांघ्रि विकीर्णबाहु पततः संग्रामभूमौ भिया
लंकेशस्य न केशपाशमनिलः स्प्रष्टुं समाकाङ्क्षति ।

कहना सो जानना। इसके विभाव—प्रियका वियोग, विभवका नाश होना इत्यादि हैं। और अनुभाव—वृथा आलाप, वृथा हँसना, वृथा रुदन इत्यादि हैं। इसका उदाहरण "नैषा काऽपि" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि दूती किसी सखीसे कहती है कि यह अर्थात् दृष्टिगोचर और अनिर्वचनीय ऐसी स्वर्णलता प्रकाशित होती है, इस प्रकारका ज्ञान तो नहीं किया किन्तु वह परम प्रेमका पात्र हमारी राधिका है, ऐसा जान करिकै उस स्वर्णलताको कहने लगे कि, कोई प्रकारसे पूछताहूं तो नहीं बोलती है, अर्थात् उत्तर नहीं देती है, तो मैं जानता हूं कि यह मूर्छिता अर्थात् मोहित होरही है। इस प्रकार निश्चयकरिकै श्रीकृष्ण जो है सो अधैर्यसूचक जो नेत्रोंका जल उससे उस लताको सींचते हैं। और वात अर्थात् अधिक श्वासको विस्तारित करते हैं। और आपके हाथसे दोनों जो भुजा अर्थात् भुजात्वसे अध्यवसित जो काञ्चनलताका समीप भाग उसमें ग्रहणकरिकै बोलते हैं, अर्थात् प्रलाप करते हैं। यहां प्रियावियोगसे विभावित और वृथा रोदनादनुभावित जो उन्माद सो चर्वणाविश्रामस्थान है॥

अब निधनका लक्षण कहते हैं "प्राण" इत्यादि वाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि प्राणनिष्क्रमण समयकी जो चित्तवृत्ति सो निधन है। इसके विभाव व्याधि अभिघात इत्यादि लोकप्रसिद्ध हैं, और अनुभाव निश्चेष्टतादि हैं, सो जानना। इसका उदाहरण "पर्यस्तांघ्रि" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं, श्लोकार्थ यह है कि पर्यस्त कहिये विस्तारित हैं चरण जिस क्रियामें जैसे होय तैसे और विस्तृत हैं बाहु जिस क्रियामें जैसे होय तैसे संग्रामभूमिमें पड़ते हुए रावणके भयसे केश-समूहका स्पर्श करनेके निमित्त वायु जो है सो इच्छा नहीं करताहै। और रावणके मुखकमलमें सूर्य आपके दीप्त किरणोंको नहीं पटकताहै। और देवता आपके घरमें कथा अर्थात् रावणके मरनेकी वार्ता भी प्रकाशित नहीं करते हैं।

उष्णं नोष्णकरः करं किरति वै वक्त्रारविन्दे न वा
स्वेस्वे धाम्नि मिथः कथामपि सुराः प्रव्यक्तमातन्वते ॥३९॥

मनोविक्षोभस्त्रासः। तथा च विचारोत्थमनःक्षोभो भीतिः। आकस्मिकमनःक्षोभस्त्रास इति विक्षोभेणैव द्वयोरप्येकत्वेनोपसंग्रहः। विभावा घोरस्वनश्रवणघोरसत्त्वदर्शनादयः। अनुभावाः स्तम्भस्वरभेदरोमाञ्चस्रस्तगात्रतादयः। यथा-

शृण्वानो हरिनाम रामवदनादिन्द्रस्य शङ्कां वहन्
कुर्वन्कातरमातरं स भगवान्मैनाकभूमीधरः।
कुञ्चत्पक्षति भुग्नितश्रुति कृतप्रत्यङ्गचोलावृति
त्यक्तव्याहृति सिन्धुपङ्ककुहरे निर्मंक्तुमाकाङ्क्षति ॥ ४० ॥

यहां संग्रामविभावित भूपतनाद्यनुभावित जो निधन सो चर्वणाविश्रामस्थान है। अब त्रासका लक्षण कहते हैं " मनोविक्षोभः " इत्यादि वाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि मनका जो क्षोभ सो त्रास है। इसका अभिप्राय यह है कि मनका विक्षोभ दो प्रकारका है, एक तो यह है कि, उत्कट, दूसरा अनुत्कट। तहां विचारसे उत्पन्न जो मनोविक्षोभ सो उत्कट है उसको भय कहते हैं। अनुत्कट जो मनोविक्षोभ है सो भी दो प्रकारका है एक तो प्राक्सम्भावित, दूसरा आकस्मिक। तहां जिस भयका पूर्वकालमें निश्चय रहै वह प्राक्सम्भावित है। और जिस भयकी पूर्वसम्भावना नहीं वह आकस्मिक है। अब इस रीतिसे उत्कट अनुत्कट दो प्रकारका जो विक्षोभ है तिसमें एकका ग्रहण करेंगे तो दूसरा अधिक व्यभिचारिभाव होगा इस हेतु विक्षोभपदसे दोनोंका ग्रहण करलिया, इस हेतु एकही व्यभिचारिभाव इसको जानना चाहिये। परन्तु भीतिको त्रास नहीं कहा जाताहै, इसलिये उत्कटसे भिन्न ऐसा जो विक्षोभशब्दवाच्य वस्तु उसको त्रास कहते हैं सो जानना। इसके विभाव घोर शब्दका श्रवण, घोर प्राणियोंका दर्शन इत्यादि जानना। अनुभाव स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, अश्रुपात इत्यादि जानना। इसका उदाहरण "शृण्वानः" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि समुद्रसे उतरनेके समय कोई विषयमें शंभुके मुखसे हरि इस नामको सुनता हुआ, और उस ही श्रवणसे नाममें इन्द्रकी शंका करता हुआ, इस ही हेतु मनको चकित करता हुआ, वह जो भगवान्

विचारो वितर्कः। विभावा विप्रतिपत्तिसंशयसाधकबाधकमानसमुद्भावादयः । अनुभावाः शिरःकम्पभ्रूचालनादयः । वितर्कश्चतुर्विधः–विचारात्मा संशयात्माऽनध्यवसायात्मा विप्रतिपत्त्यात्मा चेति । अनध्यवसाय उत्कटकोटिकसंशयः । प्रत्येकमुदाहरणानि–

अर्थात् गुप्त होनेकी शक्तियुक्त जो मैनाकनामा पर्वत सो संकुचित हैं पक्ष जिस क्रियामें जैसे होय तैसे, और वक्रीकृत हैं कर्ण जिस क्रियामें जैसे होय तैसे, और अंग अंगके प्रति वस्त्रका आवरण है जिस क्रियामें जैसे होय तैसे, और धारण किया है मौनव्रत जिस क्रियामें जैसे होय तैसे, समुद्रके कर्दममें सुलभ जो विवर उसमें गुप्त होनेको इच्छा करताहै। यहां शत्रुनामश्रवणसे विभावित, अंगसंकोचादिसे अनुभावित जो त्रास सो चर्वणाविश्रामस्थान है॥

अब वितर्कका लक्षण कहते हैं "विचारः" इत्यादि वाक्यसे । यद्यपि ऊहको वितर्क कहना यह प्राचीनोंका लक्षण है, उसकी चिन्तामें अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि चिन्ताकोभी कौन प्रकारसे यह संघटित होगा, ऐसा जो ऊह तद्रूपता है इस ही अभिप्रायसे विचार जो है सो वितर्क है यह कहनेवाले ग्रन्थकारने विवक्षितार्थनिश्चयाऽनुकूल जो यह ऐसा होनेके योग्य है, इस आकारका ऊह तो विचारपदसे कहा, वह ही विचार वितर्क है। सो इसके विभाव विप्रतिपत्ति, संशय, साधक, बाधक, मानका उद्भावन इत्यादि हैं । वादी प्रतिवादीका परस्पर विरुद्ध जो वाक्य सो विप्रतिपत्ति है । जैसे एकने कहा कि शब्द नित्य है, दूसरेने कहा अनित्य है । यहां नित्यत्व और अनित्यत्व ये दोनों विरुद्ध वस्तु हैं, इनका प्रतिपादक जो 'शब्दो नित्यो न वा' वाक्य सो विप्रतिपत्तिरूप जानना । विरुद्ध जो वस्तु उनका जो एक धर्मीमें ज्ञान सो संशय है, जैसे वह्नि और वह्निका अभाव ये दोनों विरुद्ध वस्तु हैं इन दोनों वस्तुओंका जो पर्वतमें (पर्वतो वह्निमान्न वा) इत्याकारक ज्ञान होय सो संशय है । यह विप्रतिपत्ति अथवा संशय जहां होय तहां साधकप्रमाण अथवा बाधकप्रमाण इनका जो प्रकटन करना सो साधकबाधकमानसमुद्भावन है । इसके अनुभाव-मस्तकको कँपाना, भ्रुवोंको चलाना इत्यादि हैं । वह वितर्क चार प्रकारका है–विचारात्मा, संशयात्मा, अनध्यवसायात्मा और विप्रतिपत्त्यात्मा । तहां उत्कटकोटिसाधकउपन्यासरूप जो विचार उससे आत्मा अर्थात् स्वरूप होय जिसका ऐसी व्युत्पत्तिसे विचारपूर्वक जो वितर्क सो हुआ विचारात्मा, 'यह वस्तु इस वस्तुके होनेसे ऐसा होने योग्य है'

कालिन्दीविलुठत्कठोरकमठक्रूरं धनुः शाम्भवं
रामो बालमृणालकोमलवपुर्वंशोऽवतंसो भुवः ।
व्याहारप्रखराः खलाः क्षितिभृतां गोष्ठी गरिष्ठा पुन-
स्तस्मात्केवलमेष तिष्ठति मम श्रेयस्करो भास्करः॥ ४१॥

इस आकारके वितर्कका नाम विचारात्मा है यह फलित अर्थ हुआ। संशयसे है स्वरूप जिसका इस व्युत्पत्तिसे संशयपूर्वक वितर्कको संशयात्मा कहना तो 'यह वस्तु ऐसा भी हो सकताहै अन्यथा भी हो सकताहै' ऐसे आकारके ऊहको संशयात्मा कहना यह फलित हुआ। अध्यवसाय विपरीत निश्चयको कहतेहैं, उसका जो विरोधी अर्थात् विशेषदर्शन सो अनध्यवसाय कहिये, उससे है स्वरूप जिसका इस व्युत्पत्तिसे विशेषदर्शनपूर्वक जो ऊह सो अनध्यवसायात्मा कहिये तो यह वस्तु इस गुणसे युक्त उक्त प्रकारसे किस प्रकार होगा ? ऐसा जो ऊह सो अनध्यवसायात्मा है यह फलित हुआ। इसहीको उत्कटकोटिकसंशय ग्रन्थकारने कहाहै। दोनों ही कोटिसे व्यावृत्त अर्थात् भिन्न स्थानमें रहनेवाला जो धर्म उसकी जो प्रतिपत्ति अर्थात् ज्ञान सो कहिये विप्रतिपत्ति उससे है स्वरूप जिसका इस व्युत्पत्तिसे कोटिकद्वयव्यावृत्त जो धर्म अर्थात् दोनों कोटिके रहनेके स्थानमें न रहै ऐसा जो धर्म उसका जो दर्शन उससे उत्पन्न जो संशय तत्पूर्वक जो ऊह सो कहिये विप्रतिपत्त्यात्मा, तो 'यह वस्तु इस वस्तुके होनेसे ऐसा नहीं होसकताहै उसके होनेसे ऐसा भी नहीं हो सकताहै' इस आकारके ऊहका नाम विप्रतिपत्त्यात्मा है यह फलित हुआ। अब विचारात्माका उदाहरण "कालिन्दी" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि स्वयंवरप्रसंगमें रामको देखतेहुए जनककी आपके मित्रके प्रति उक्ति है कि पण किया ऐसा महादेवका जो धनुष सो यमुनामें रहनेवाला और कठिन ऐसा जो कमठ अर्थात् कच्छप उसकी कठोरताके सदृश है, कठोरता जिसकी ऐसी है, अर्थात् महावीरके भी शक्य जिसका आकर्षण नहीं है ऐसी है। और दशरथके पुत्र जो राम सो नया पैदा हुआ जो कमलनाल उसके सदृश है कोमल शरीर जिसका ऐसा है, अर्थात् महावीरको शक्य नहीं आकर्षण जिसका ऐसा जो धनुष उसके आकर्षणमें अत्यन्त अशक्त है। और हमारा जो कुल है सो पृथिवीका अलंकारणरूप है (यह कहनेका अभिप्राय यह है कि अबतक यह कुल अकलंकित है परन्तु इस कन्यासे तो रामका ही विवाह होगा और मेरी प्रतिज्ञा है कि धनुष तोडनेवालेको कन्या दूंगा।

सौन्दर्यस्य मनोभवेन गणनालेखा किमेषा कृता
लावण्यस्य विलोकितुं त्रिजगतीमेषा किमुद्ग्रीविका।
आनन्दद्रुममञ्जरी नयनयोः किंवा समुज्जृम्भते
राधायाः किमुवा स्वभावसुभगा रोमालिरुन्मीलति४२॥

और रामसे धनुष टूटैगा यह दीखता नहीं है तो प्रतिज्ञाभंग हो जायगा तो लोकमें अकीर्ति होगी सो अकीर्ति हमारे अनुरूप नहीं है) कदाचित् कहैं कि विवाहमें प्रतिज्ञाभंग होना दोषप्रद नहीं है सो ठीक है परन्तु दुष्टमति जो जन हैं सो दोषोद्भावन विषयमें अत्यन्त निपुण हैं। ऐसा है तो हमारी प्रतिज्ञाका भंग होनेसे हम दोष नहीं भी मानैंगे तो भी हमको अनाचारिताकी प्राप्ति होवैगीही सो जानना। और यहां राजाओंकी सभा बहुत भारी है इस हेतु लोकोंके सामने ऐसा भी अनाचार योग्य नहीं है इस कारणसे हमको कर्तव्य अर्थकी परिस्फूर्ति नहीं होती है। अब तो प्रतिदिन जिनकी उपासना करतेहैं ऐसे जगत्प्रकाशक सूर्य ही हमारा कल्याण करनेवाले स्थित हैं। यहां रामचन्द्र धनुषका नमन करैंगे वा नहीं करैंगे ऐसी जो मित्रकी विप्रतिपत्ति उससे विभावित और गम्य जो शिरःकम्पादि उससे अनुभावित जो देवताऽनुगुण्यरूप साधकोपन्यासात्मक विचारपूर्वक सूर्यकी सहायतासे राम धनुषका नमन करें इत्याकारक ऊह सो चर्वणाविश्रामस्थान है॥

अब संशयात्माका उदाहरण-"सौन्दर्यस्य" इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं। श्लोकार्थ यह है कि कोई रोमावलीकी प्रशंसा करता है कि यह जो दीखती हुई दीर्घ और सूक्ष्म और श्यामल है सो कामदेवने सौन्दर्यकी गणनारेखा अर्थात् संसारमें एक ही यह सौन्दर्य है इसकी सूचक लिपि की है क्या? ऐसा दीखताहै। अथवा लावण्यमें तीनों जगतोंको देखनेके लिये ऊंची ग्रीवा की है क्या? ऐसा दीखताहै। अथवा दोनों नेत्रोंका जो आनन्दरूप वृक्ष उसकी जो मञ्जरी अर्थात् पुष्पगुच्छ सो वृद्धिको प्राप्त होताहै क्या? ऐसा दीखताहै। अथवा राधाकी स्वभावसे सुन्दर जो रोमावली सो दोनों नेत्रके विषयमें प्रकाशित होती है क्या? ऐसा दीखताहै। यहां संशयसे विभावित गम्यभ्रूचालनसे अनुभावित और कविकल्पित जो वक्ता उसका जो उक्त प्रकारका संशय तत्पूर्वक जो यह राधाकी रोमावली सो भी होसकती है, गणनारेखा भी होसकती है

कथय कथय केयं खञ्जनं खेलयन्ती
विहरति यमुनायाः पाथसि स्वर्णवल्ली ।
अयमुदयति को वा शारदः शीतभानु-
स्तदुपरि तिमिराणामेष को वा विवर्तः ॥ ४३ ॥
इयं न विलसत्सुधाकरकलाऽधिका राधिका
करं किरणमालिनः किमु सहेत तस्या वपुः ।

इत्याकारक ऊह सो चर्वणाविश्रामस्थान है ॥ अब अनध्यवसायात्माका उदाहरण " कथयकथय " इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि यमुनातीरमें स्थित जो राधा उसका यह वर्णन है कि यमुनाके जलमें स्वर्णवल्लित्वसे अवगत ऐसी खञ्जनत्वसे अवगत जो नेत्र उसको खिलाती अर्थात् उद्वेग कराती ऐसी कौन है ? अर्थात् पूर्व इसको नहीं देखी है इसको कहो कहो । और अतिप्रसन्न शीतकिरणत्वसे अवगत वह भी कौन ऊगताहै ? अर्थात् मेरे सम्मुख आरहाहै । और इसके ऊपर प्रत्यक्ष ऐसा जो तिमिरतासे भासमानका विवर्त अर्थात् परिणामभेद कौन है यह भी कहो? यह भी पूर्व देखा हुआ नहीं है । यहां गम्य जो परवैमत्यादि उससे विभावित और परकीय प्रश्नसे अनुभावित जो खञ्जनात्मक विशेषदर्शनपूर्वक खञ्जनाध्यवसितलोचनयुगयुक्त यह नायिका कैसे हो सकैगी, और तिमिरत्वसे अध्यवसित धम्मिल्लसे युक्त यह मुख किस प्रकार हो सकैगा । ऐसा जो ऊह सो चर्वणाविश्रामस्थान है ॥

अब विप्रतिपत्त्यात्माका उदाहरण " इयम् " इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि विशेषतासे शोभायुक्त अर्थात् प्रकाशमान जो सुधाकरकला अर्थात् अमृतभरपूरित अवयविम्बात्मक एकदेश ही अमृतपूरितषोडशकलामूर्तिरूप चन्द्रसे अधिक है जिसमें ऐसी यह राधिका नहीं, क्योंकि राधिकाका जो शरीर है सो किरणमाला अर्थात् सूर्यकी जो किरण उसको सहेगा क्या ? इससे राधिका नहीं है और कनकमञ्जरी भी यह नहीं है, क्योंकि जिसकारणसे खञ्जरीट अर्थात् पक्षिविशेषको धारण करती है तिस कारणसे दोनोंसे विलक्षणता होनेसे स्मरमदालसा अर्थात् शरीरगौरवसे युक्त ऐसी यह देखनेमें आती है सो कौन है सो कहो । यहां आधिक्यरूप साधकको सूर्यकिरणरूप बाधकको उपन्याससे विभावित परकीयप्रश्नसे अनुभावित असाधारण धर्मदर्शनजन्यसंशयपूर्वक यह सूर्यकिर-

न वा कनकमञ्जरी वहति खञ्जरीटं यत-
स्ततः स्मरमदालसा कथय केयमुन्मीलति ॥ ४४ ॥

ननु दशावस्थास्वभिलाषगुणकथाप्रलापा व्यभिचारिभावाऽभ्यन्तरे न गणितास्तत् किं स्वतन्त्रा एवेति चेन्न। औत्सुक्येऽभिलाषस्य वर्णनात्मकस्मृतौ गुणकथाया उन्मादे प्रलापस्यान्तर्भावात्। अत्र प्रतिभाति छलमधिको व्यभिचारिभाव इति। "ताम्बूलाहरणच्छलेन रभसा श्लेषोऽपि संविघ्नितः" इति शृङ्गारे दर्शनात्। रौद्रे चेन्द्रजालादिदर्शनात्। हास्ये च व्यपदेशाऽन्यापदेशयोर्दर्शनात्। वीथीभेदे दर्शनाच्च।

णके सहनसे राधिका नहीं है खञ्जरीटके धारणसे कनकमञ्जरी भी नहीं है इस आकारका ऊह चर्वणाविश्रामस्थान है। यहां यह शंका होती है कि दोनों कोटिसे जो भिन्न धर्म उसका दर्शन होतसन्ते अन्यतर कोटिका निश्चय नहीं होसकैगा ऐसा हुआ तो विवक्षितार्थ निश्चयके अनुकूल यह ऊह नहीं हुआ इस हेतु वितर्कलक्षणकी यहां अव्याप्ति हुई। इसका समाधान यह है कि 'स्मरमदालसा' इस पदसे गात्रगुरुतादिसे कथंचित् सहता भी है इस अर्थका प्रकाश होनेसे राधाकोटिनिश्चयकी अनुगुणता स्फुट ही है तो अव्याप्ति नहीं हुई सो जानना॥

यहां यह शंका होती है कि दश अवस्था जो कही हैं तहां कोई तो शारीर हैं कोई मानस हैं जैसे व्याधि और उन्माद यह दोनों शारीर हैं तहां व्याधि जो है सो विकाररूप है, इस हेतु वैवर्ण्यरूप सात्त्विकभावमें अन्तर्गत है। और नानाविधव्यापारात्मक जो पुलकादिरूप उन्माद है सो तो यथायोग्यरोमाञ्चादिमें अन्तर्गत है। और सब अवस्था मानस हैं। उनमें चिन्ता, स्मृति, जडता इनका तो व्यभिचारिभावोंमें परिगणन किया है और अभिलाष, गुणकीर्तन, प्रलाप इनका परिगणन व्यभिचारिभावोंमें क्यों नहीं किया तो ये तीनों क्या इनसे न्यारे हैं? इसका समाधान यह है कि अभिलाष तो इच्छारूप है इस हेतु औत्सुक्यमें अन्तर्गत होगा। और गुणकथाका वर्णनात्मक स्मृतिमें अन्तर्भाव है। और प्रलापका उन्मादमें अन्तर्भाव है इस हेतु ये तीनों व्यभिचारिभावोंमें अन्तर्गत हैं, स्वतन्त्र नहीं

संगुप्तक्रियासंपादनं छलम् । विभावा अवमानप्रति-

हैं सो जानना । यह दिग्प्रदर्शन कर दियाहै । और भी जानना चाहिये कि उद्वेग जो है सो व्याधिमें अन्तर्गत है । और निधन जो है सो मरणरूप व्यभिचारिभावमें अन्तर्गत है । ऐसा हुआ तो जो अवस्था जिस व्यभिचारिभावमें अन्तर्गत होजाय उस अवस्थाका उदाहरण उस व्यभिचारिभावके उदाहरणमें अन्तर्गत जानना । अब यहां यह प्रतीत होताहै कि व्यभीचारी छलरूपते तिससे पृथक है । क्योंकि 'ताम्बूलाहरण' इत्यादि शृंगारश्लोकमें छलका कथन देखते हैं यह श्लोक इस प्रकार है कि । "एकत्रासनसंस्थितिः परिहृता प्रत्युद्गमाद्दूरतस्ताम्बूलाहरणच्छलेन रभसाश्लेषोऽपि संविघ्नितः । आलापोऽपि न मिश्रितः परिजनं व्यापारयन्त्या तया कान्तं प्रत्युपचारतश्चतुरया कोपः कृतार्थीकृतः ।" इस श्लोकका अर्थ यह है कि चतुरा जो वह नायिका है उसने कान्तके प्रति ईर्ष्या मान जो है सो उपचार अर्थात् तत्तत्कालोचित क्रियाओंसे 'कृतार्थीकृतः' अर्थात् अकृतार्थ कृतार्थ करदिया । इसका अभिप्राय यह है कि स्फुटभी जो ईर्ष्यामान् सो अस्फुटताको प्राप्त करदिया, क्योंकि कोप प्रकाश होते सन्ते कोपकी निवृत्तिमें चतुर नायकने सुन्दरवचनादिकोंसे एक स्थानमें स्थित होकरिके कोपको अनर्थकता होजाती इस हेतु उस कोपको गुप्त किया, यही बात प्रगट करते हैं कि, दूरसे उठकरिके सम्मुख जानेसे एक स्थानमें स्थितिका त्याग करदिया । और वीटिकाका आनयनरूप जो कार्य उससे रभसाश्लेप अर्थात् प्रेमालिंगन जो है सो भी विघ्नयुक्त कर दिया । अभिप्राय यह है कि आलिंगनाऽवसरमें आपही उठकरिके ताम्बूलकी वीटिका लाने चली गई इस हेतु आलिंगनकाभी त्याग करदिया । यहां छलशब्द कार्यार्थक जानना इस हेतु वमनाख्य दोष नहीं है । और परिजन अर्थात् बन्धुवर्गको तत्तद्व्यापारयुक्त करती हुई ऐसी उसने आलाप अर्थात् परस्पर प्रश्नरूप भाषण भी नहीं मिश्रित किया अर्थात् उत्तर प्रत्युत्तर नहीं हुआ । और रौद्ररसमें इन्द्रजालादि छलरूप देखते हैं । और हास्यरसमें व्यपदेश अर्थात् छलयुक्त व्यवहार और अन्यापदेश अर्थात् औरसे छल करना यह देखते हैं । और मार्गविशेषमें अर्थात् कणादशास्त्रसे पृथग्भूत न्यायशास्त्रमें गौतमरचित प्रथम सूत्रमें छलकी पृथक् गणना है अभिप्राय यह है कि प्राचीन निबन्धमें भी छलकी गणनाहै सो जानना ॥

हेतु छलका लक्षण कहते हैं "संगुप्त" इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि

पक्षकुचेष्टादयः । अनुभावा वक्रोक्तिनिभृतस्मितनिभृतवीक्षणप्रकृतिप्रच्छादनादयः । शृङ्गारे यथा-

संकेतीकृतकाननं प्रविशतोरन्योऽन्यकौतूहला-
दन्यत्वप्रतिभानमारचयतोरन्योन्यमुत्त्रस्यतोः ।
कुञ्चत्कायमितस्ततः किसलयैरात्मानमावृण्वतो
राधामाधवयोर्निकुञ्जकुहरादुद्ग्रीविका पातु नः ॥ ४५ ॥

संग्रामे यथा-

सत्ताऽपि कृतान्कपटाम्बुराशीन्पुरोपकण्ठे पुनरीक्षमाणः ।
दृशौ कपीन्द्रस्य मुखे सखेदमायोजयामास स रामचन्द्रः॥४६॥

कोई क्रियाका जो गोपन इसका कारणीभूत जो क्रियान्तर उसकी कारणीभूत जो अन्तःकरणवृत्ति सो छल है । अवहित्थ जो है सो तो निर्वेदादि जो अनुभाव हैं उनका गोपन उसको उत्पन्न करनेवाला है, और छल जो है सो उससे भिन्नक्रियाका गोपन करनेवाला है, इससे इनमें भेद जानना। इसके बिभाव अवमान और विपरीतपक्ष और कुत्सितचेष्टा इत्यादि हैं । अनुभाव- वक्रोक्ति, निरन्तर स्मित और निरन्तर झांकाना और प्रकृतिका छिपाना इत्यादि जानना ।

शृंगार रसमें छलका उदाहरण "संकेतीकृत" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि निकुञ्जकुहर कहिये लतामण्डपके समीपमें स्थित होकरिके कीहुई जो राधामाधवकी उद्ग्रीविका अर्थात् ग्रीवाका ऊँचा करना सो हमारी रक्षा करो । कैसे हैं राधा माधव सो, कहते हैं कि संकेतीकृत कानन अर्थात् किया है संकेत जिसका ऐसे वनके प्रति जातेहुए ऐसे, और परस्परमें कौतुकसे जो न्यारापना जानना अर्थात् भिन्न २ भी जो राधा-माधव तिनका यथार्थतासे परस्पर ज्ञान नहीं होय इस रीतिसे व्यवहार करते हुए, इसही हेतु परस्पर उत्त्रसित होते अर्थात् वह तो उनके जाननेके भयसे युक्त और वह उनके जाननेके भयसे युक्त ऐसे और संकोचयुक्त है शरीर जिस क्रियामें जैसे होय तैसे । कहीं कहीं आपके स्वरूपको आम्रपत्रोंसे ढकते हुए ऐसे । यहां निःशंकव्यवहारपरीक्षासे विभावित और निरन्तरवीक्षणाद्यनुभावित कुञ्जप्रवेशगोपनफलक जो छल सो चर्वणाविश्रामस्थान है ।

अब संग्राममें छलका उदाहरण कहते हैं " सत्ताऽपि " इत्यादि श्लोकसे ।

सर्वाणि व्यभिचारिस्थलानि विस्तरभयान्नोदाहृतानि । आलस्यौग्र्यजुगुप्साः सम्भोगे वर्ज्याः । विप्रलम्भे चालस्यग्लानिनिर्वेदश्रमशंकानिद्रौत्सुक्यापस्मारसुप्तविबोधोन्मादजाड्यासूया व्यभिचारिणः । हास्येऽवहित्थालस्यनिद्रासुप्तप्रबोधाऽसूयाव्यभिचारिणः । करुणे मोहनिर्वेददैन्यजाड्यविषादश्रमापस्मारोन्मादव्याध्यालस्यस्मृतिवेपथुस्तम्भस्वरभेदाश्रूणि व्यभिचारिणः । रौद्र उत्साहस्मृतिस्वेदावेगामर्षरोमाञ्चचपलतोग्रत्वस्वरभेदकम्पा व्यभिचारिणः । वीर उत्साहधृतिमतिगर्वावेगामर्षौग्र्यरोमाञ्चाः

श्लोकार्थ यह है कि भ्रान्तिकारिके सत्तायुक्त जो सातोंही कपटाम्बुराशि अर्थात् इन्द्रजालरचित समुद्र उनको लंकाके समीपमें देखता हुआ जो वह अर्थात् देखाहै हनुमानका पराक्रम जिसने ऐसा रामचन्द्र सो उदधिका आक्रमण करनेवाले हनुमानके मुखमें दोनों नेत्रोंको खेदयुक्त जैसे होय तैसे प्रेरित करता भया । यहां अम्बुराशिका अवभासक जो प्रतिपक्ष राक्षस उसकी कुचेष्टासे विभावित, खेदयुक्त दृष्टिपातसे अनुभावित आपका तत्त्वावगोपनफलक जो रामनिष्ठ छल सो चर्वणाविश्रामस्थान है । "ततः सिंहोऽभवत्सद्यो यावत्तस्याम्बिका शिरः । छिनत्ति तावत्पुरुषः खड्गपाणिरदृश्यत ।" इत्यादि रौद्रकाव्यमें भी छल देखते हैं सो जानलेना । यहां कोई शंका करताहै कि यह जो तेतीस प्रकारकी संख्याका नियम किया सो नहीं बनसकता है, क्योंकि मात्सर्य, उद्वेग, दम्भ, ईर्ष्या, विवेक, निर्णय, क्लीबता, क्षमा, कौतुक, उत्कण्ठा, विनय, संशय, धृष्टता इत्यादिको भी तहां उदाहरणसे देखते हैं । यह शंका समीचीन नहीं क्योंकि असूयासे मात्सर्यका, त्राससे उद्वेगका, अवहित्थसे दम्भका, अमर्षसे ईर्ष्याका, मतिसे विवेक और निर्णय इन दोनोंका, दीनतासे क्लीबताका, धृतिसे क्षमाका, औत्सुक्यसे कुतुक और उत्कण्ठा इन दोनोंका, लज्जासे विनयका, वितर्कसे संशयका, चपलतासे धृष्टताका वास्तविक सूक्ष्म भेद है भी तोभी इस मध्यमें इनकी प्राप्ति होनेसे इनसे इनको एकताका अध्यवसाय करते हैं । इन

व्यभिचारिभावाः । भये स्तम्भस्वेदगद्गदतारोमाञ्चवैवर्ण्य-शङ्कामोहावेगदैन्यचापलत्रासापस्मारप्रलयमूर्च्छा व्यभिचारिणः । बीभत्सेऽपस्मारमोहावेगवैवर्ण्यानि व्यभिचारिभावाः । अद्भुते स्तम्भस्वेदगद्गदताश्रुरोमाञ्चविभ्रमस्मया व्यभिचारिभावाः । अन्ये व्यभिचारिणो रसाऽनुकूला ऊहनीयाः ॥

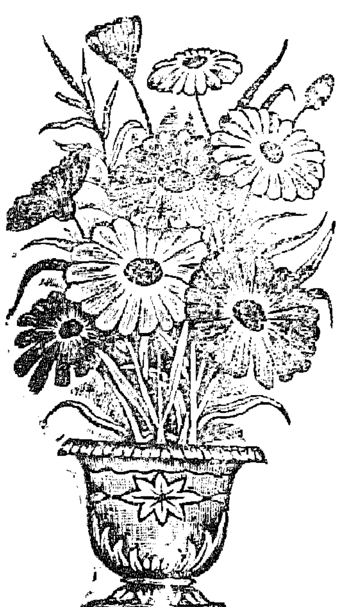
व्यभिचारिभावोंमें कोई व्यभिचारिभाव किसीका विभाव भी होताहै । और किसीका अनुभाव भी होताहै । जिस प्रकार ईर्ष्या निर्वेदका विभाव है और असूयाका अनुभाव है, तिसही प्रकार चिन्ता निद्राका विभाव है और औत्सुक्यका अनुभाव है इत्यादि । अब तत्तद्रसमें व्यभिचारिभावोंको दिखाते हैं—आलस्य, उग्रता, जुगुप्सा यह तीनों सम्भोग शृंगारमें वर्जित हैं । यह कहनेसे इन तीनोंको छोडकरिके सम्भोग शृंगारमें व्यभिचारिभाव जानना । और विप्रलम्भमें आलस्यादि असूयान्त व्यभिचारिभाव हैं । और हास्यमें अवहित्थादि असूयान्त व्यभिचारी हैं । करुणमें मोहादि अश्रुपर्यन्त व्यभिचारी हैं । रौद्रमें उत्साहादि कम्पान्त व्यभिचारी हैं । वीरमें उत्साहादि रोमाञ्चान्त व्यभिचारी हैं । भयानकमें स्तंभादि मूर्छान्त व्यभिचारिभाव हैं । बीभत्समें अपस्मारादि वैवर्ण्यान्त व्यभिचारिभाव हैं । अद्भुतमें स्तम्भादि स्मयान्त व्यभिचारिभाव हैं । ये जो व्यभिचारिभाव दिखायेहैं सो बहुत स्थलमें ये ही व्यभिचारिभाव प्राप्त हैं इस अभिप्रायसे दिखाये हैं। और भी व्यभिचारिभाव तत्तद्रसमें हैं सो जानना चाहिये । जैसा कि शृंगारमें भय, व्याधि, चिन्ता, स्मृति, मति, विस्मय, हर्ष, व्रीडा, मद, विषाद, अवहित्था, चपलता, धृति ये हैं । और हास्यमें श्रम, चपलता, स्वप्न, ग्लानि, शंका ये अन्यत्र कहे हैं । करुणमें चिन्ता, ग्लानि, धृति ये हैं । रौद्रमें ईर्ष्या, असूया, गर्व, मद ये हैं । वीरमें वितर्क, असूया, मोह, शोक, हर्ष, मद ये हैं । भयानकमें सन्ताप, मरण ये हैं । बीभत्समें विषाद, भय, रोग, मति, मद, उन्माद ये हैं । और अद्भुतमें आवेग, जडता, मोह, हर्ष, विस्मय, धृति ये हैं । इसही हेतु ग्रन्थकार लिखते हैं कि और भी व्यभिचारिभाव रसके अनुकूल हैं उनका ऊह कर लेना । स्थायिभाव विशेष भी रस विशेषमें व्यभिचारी होतेहैं । जिस प्रकार हास शृंगा-

स्थायिनोऽपि व्यभिचरन्ति । हासः शृङ्गारे । रतिः शान्तकरुणहास्येषु । भयशोकौ करुणशृङ्गारयोः । क्रोधो वीरे । जुगुप्सा भयानके । उत्साहविस्मयौ सर्वरसेषु व्यभिचारिणौ ॥

इति श्रीभानुदत्तविरचितायां रसतरंगिण्यां व्यभिचारिभावनिरूपणं नाम पञ्चमस्तरंगः ॥ ५ ॥

रमें व्यभिचारी है, रति शान्त, करुण, हास्य इनमें व्यभिचारी है । और भय तथा शोक करुण और शृंगार इनमें व्यभिचारी है । क्रोध वीरमें व्यभिचारी है । जुगुप्सा भयानकमें व्यभिचारी है । और उत्साह तथा विस्मय सबरिसोंमें व्यभिचारिभाव है सो जानना ॥

इति श्रीरसतरङ्गिणीभाषाटीकायां व्यभिचारिभावनिरूमणं नाम पञ्चमस्तरङ्गः ॥ ५ ॥



षष्ठस्तरंगः ६.

अथ रसा निरूप्यन्ते । विभावाऽनुभावसात्त्विकभावव्यभिचारिभावैरुपनीयमानः परिपूर्णः स्थायिभावो रस्यमानो

रसके सम्पूर्ण हेतुओंका निरूपण कर दिया। अब अवसरप्राप्त रसनिरूपण है उसकी प्रतिज्ञा करतेहैं "अथ" इत्यादि वाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि स्थायिभावविभावाऽनुभावसात्त्विकभावव्यभिचारिभावनिरूपणाऽनन्तर रसका निरूपण किया जाताहै। निरूपण लक्षणके विना नहीं होसकताहै इस हेतु रसका लक्षण " **विभाव** " इत्यादि वाक्यसे कहते हैं। वाक्यार्थ यह है कि विभाव, अनुभाव, सात्त्विकभाव और व्यभिचारिभाव इनसे परिपूर्ण अर्थात् आलम्बन उत्पादित उद्दीपनसे उद्दीपित, अनुभावसे प्रतीतियोग्य किया गया। और व्यभिचारिभावसे पुष्ट जो स्थायिभाव सो रामादिक अनुकार्योंमें ही उपनीयमान अर्थात् स्थित और नटमें कृत्रिमवेशादिसे अनुकार्य रामादितुल्यताऽनुसन्धानबलकरिकै आरोप्यमाण और रस्यमान अर्थात् चमत्कारहेतु रस अर्थात् रसपदार्थ है सो जानना चाहिये। तहां रस्यमान यह जो कहा सो रस पदकी प्रवृत्तिमें निमित्त दिखाया है, क्योंकि चमत्कार हेतु हुए बिना वस्तुमें प्रवृत्ति नहीं होती है, इस हेतु यह प्रवृत्तिनिमित्त है सो जानना। यहां यह शंका हुई कि यद्यपि भरतसूत्रमें विभावाऽनुभावव्यभिचारिभावके संयोगसे रसकी निष्पत्ति कही है तथापि यहां सात्त्विकभाव द्विरूप है अव्यक्ति व्यभिचारिभावरूपभी है अनुभावरूप भी है इस हेतु विभाव सात्त्विकभाव दोनोंके सम्बन्धसे ही तीनकी प्राप्ति होजायगी। फिर लक्षणवाक्यमें अनुभाव व्यभिचारिभाव इन दोनोंका उपादान क्यों किया? इसका समाधान यह है कि सात्त्विकभाव कहकरिकै अनुभाव, व्यभिचारिभावका जो ग्रहण किया सो गोबलीवर्दन्यायसे जानना। इसका अभिप्राय यह है कि किसीने किसीसे कहा कि गौको लेआओ और बलीवर्दको लेआओ यहां गो इस शब्दके उच्चारणसे बलीवर्दकाभी आनयन सिद्ध होजायगा, फिर बलीवर्दका उपादान निरर्थक होताहै, इस हेतु यहां गोशब्द बलीवर्दसे भिन्न गौका बोधक होताहै, इस ही प्रकार यहां भी अनुभाव व्यभिचारिभाव शब्द जो हैं सो सात्त्विकभिन्न अनुभाव और सात्त्विकभिन्न व्यभिचारिभावका बोधक है इस ही हेतु भरतसूत्रमें व्यभिचारिभावशब्दसे निर्वेदादिका ही ग्रहण कियाहै इस वार्ताका स्मरण कर लेना चाहिये। यह जो रसका लक्षण किया है सो 'विभावाऽनुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इस भरतसूत्रके व्याख्यानकर्ता जो भट्टलोल्लट

प्रभृति तिनकेभी संमत है । व्याख्यान इस प्रकार है कि आलम्बनसे उत्पाद्योत्पादकभावसम्बन्ध, उद्दीपनसे उद्दीप्योद्दीपकभावसंबन्ध, अनुभावसे गम्यगमकभावसम्बन्ध, व्यभिचारिसे पोष्यपोषकभावरूपसम्बन्ध जो रतिको होताहै सो ही तीनोंसे संयोगसम्बन्ध कहाताहै । उस संयोगसम्बन्धके बलसे जो रसकी निष्पत्ति अर्थात् आलम्बनसे उत्पत्ति, उद्दीपनसे उद्दीप्ति, अनुभावसे अनुभव, व्यभिचारिभावसे रसकी पुष्टि रामादिमें होती है इस हेतु इस मतमें रस रामादिनिष्ठ ही है, नटमें तो रामरूपताऽध्याससे आरोपविषय होताहै । अथवा उक्त लक्षणवाक्यका ऐसा अर्थ है कि कृत्रिम भी जो विभावादि उनमें कृत्रिमताज्ञान नहीं हुआ है इस हेतु कृत्रिमतासे विभावादि सम्पूर्ण अगृहीत है, उसी विभावादि हेतुसे उपनीयमान अर्थात् चित्रतुरगन्यायसे 'राम यह है' यह जो बुद्धि उसका विषय जो नटरूप पक्ष उसमें अनुमीयमान ऐसा, इस ही हेतु परिपूर्णरूप अर्थात् स्थायिभावावस्थासे अवस्थान्तरको प्राप्त जो स्थायिभाव इत्यादिक सो रस्यमानता अर्थात् चर्व्यमाणतासे रसपदार्थ है, सो जानना चाहिये । यह बात श्रीशंकुने कही है कि 'रामही यह है' यह जो रामसे असम्बन्धकी निराकरण करनेवाली बुद्धि, और 'यही राम है' यह जो इदंपदार्थसे भिन्नमें रामसम्बन्धकी निराकरण करनेवाली बुद्धि ये दोनों बुद्धि शास्त्रमें सम्यग्बुद्धि कहाती हैं । इन दोनों बुद्धियोंसे और उत्तरकालमें उत्पन्न हुआ जो 'यह राम नहीं है' ऐसा बाधज्ञान सो होनेवाला रहै तब पूर्वकालमें उत्पन्न हुआ जो 'राम यह है' ऐसी मिथ्याबुद्धि, और विरुद्ध दो वस्तुओंकी जो 'यह राम है' वा 'नहीं है' ऐसी संशयरूप बुद्धि, और रामसादृश्यको विषयकरनेवाली जो 'रामसदृश यह है' यह बुद्धि ये जो पांच प्रकारकी लोकप्रसिद्ध बुद्धि हैं, सो तो प्रवृत्ति और निवृत्तिके योग्य हैं । और जिसमें प्रवृत्तिनिवृत्तिकी योग्यता नहीं है इसही हेतु उस पांच प्रकारकी बुद्धिसे विलक्षण जो चित्रमें 'घोड़ा यह है' इस बुद्धिकी तरह 'राम यह है' यह बुद्धि इस बुद्धिका विषय जो नटरूप पक्ष उसमें बाधित भी जो विभावादित्रयात्मक हेतु उसका ज्ञान होताहै । नटमें उसका ज्ञान किस प्रकार होताहै यह शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि नाट्य करनेवाले नटने नाना प्रकारके काव्यको जानकरिकै आलम्बनविभाव, उद्दीपनविभाव इन दोनोंका और पूर्वकालहीमें गुरुशिक्षाको प्राप्त होकरिकै रोमाञ्चादिके प्रकाशनमें किया हुआ जो अतिशयित अभ्यास उस अभ्याससे रोमाञ्चके आविर्भावकरिकै अभिव्यक्त जो उत्कण्ठादिक व्यभिचारिभाव उनका, और अभ्यासपटुताकरिकै ही तत्तत्कालोचित कटाक्ष—भुजक्षेपादिक अनुभावके अवगमका सम्भव है, उस विभावादित्रयके ज्ञानसे नटमें रत्याद्यात्मक स्थायिभावकी अनुमिति होती है, वह जो अनुमिति है सो ही चमत्कारसहित प्रतीतिरूपा चर्वणा

रसः । भावविभावाऽनुभावव्यभिचारिभावैर्मनोविश्रामो यत्र क्रियते स वा रसः ॥

कही जाती है । चर्वणाका विषय जो स्थायी सो रस पदार्थ है, चर्वणा सामाजिकमें है, इस हेतु सामाजिकमें ही रसव्यवहार होताहै । ऐसा हुआ तो भरतसूत्रका यह अर्थ हुआ कि विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव इनकरिकै जो संयोग अर्थात् अनुमान उससे रस जो स्थायी उसकी निष्पत्ति अर्थात् अनुमिति होती है । ये दोनों पक्ष समीचीन नहीं, क्योंकि वास्तविक विचार करते हैं तो सामाजिकोंमें रसका स्पर्श तो है नहीं, ऐसा हुआ तो सौ वार रसका आरोप करनेसे अथवा अनुमिति करनेसे चमत्कार नहीं होगा, कदाचित् यह कहो कि स्थायिभावरूप वस्तुमें जो सुखरूपता है उसके बलसे ही आरोप वा अनुमिति चमत्कारका कारण होसकते हैं, यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि लोकप्रसिद्ध अर्थको त्याग करिकै ऐसी कल्पना करनेमें सहृदय जनको विश्वास नहीं है । और सुनो, सामाजिक जनमें तो रामनिष्ठ रति वस्तु है नहीं, तो असत् जो रति सो सामाजिकोंको व्यञ्जित होगी, यह भी कहना दुर्लभ है । आपने बाहुबलसे स्वीकार कराओ तो वासनाविरहित जो बालक मूर्ख जन हैं, उनमें रसाऽभिव्यक्ति हो जायगी, इस हेतु भरतसूत्रका ऐसा अर्थ करना चाहिये कि विभावादिसे जो संयोग अर्थात् भोज्यभोजकभावरूप सम्बन्ध उससे उसकी निष्पत्ति अर्थात् भोग होताहै, इस ही अर्थको मानकरिकै दूसरा लक्षण कहते हैं "भाव" इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि भाव अर्थात् स्थायिभाव और विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव इनसे मनका विश्राम जहां करतेहैं सो रस है । इस लक्षणमें विभाव आदिके साथ जो स्थायिभावका उपादान कियाहै सो साधारणीकरणरूप एक प्रयोजन जनानेके अर्थ है । इस लक्षणका अभिप्राय यह है कि शब्दरूप काव्यका अभिधारूप जो प्रथम व्यापार उससे आप आपके असाधारणरूपसे अर्थात् सीतात्वादिरूपसे विभावादि उपस्थित होतेहैं, फिर काव्यका भावकत्वरूप जो द्वितीय व्यापार उससे नायिकात्वादि जो रसानुकूल धर्म उससे भावादि उपस्थित होते हैं । यह जो नायिकात्वादि धर्मसे भावादिकी उपस्थिति सो रसका विरोधी जो अगम्यात्वरूप जो स्त्रीका ज्ञान उसका प्रतिबन्ध करती है और सम्बन्धिविशेषसे मिलन विना इन सम्पूर्णकी उपस्थिति होती है । यहां यह शंका हुई कि काव्यमें ऐसा भावकत्वव्यापार मानना निरर्थक है, क्यों कि आपके आत्मामें उस उस नायिकादिको जो अभेदबुद्धि होगी उसहीसे

प्रबुद्धस्थायिभाववासना वा रसः ।

अगम्यात्वरूपकरिके जो स्त्रीका ज्ञान उसका प्रतिबन्ध होजायगा । इसका समाधान यह है कि दुष्यन्तादि नायकोंमें पृथिवीपतित्व और धीरत्वादिका ज्ञान होनेसे आपके आत्मामें आधुनिकत्व, कुत्सितपुरुषत्वादिका ज्ञान होनेसे वैधर्म्यका ज्ञान स्फुट हो जायगा, इस हेतु दुष्यन्तादि नायकोंसे अभेद आपमें नहीं जान सकैंगे, ऐसा हुआ तो साधारणीकृत जो दुष्यन्त और शकुन्तला और देशकालवयःस्थिति इनके होतसन्ते भावकत्व व्यापार तो विरामको प्राप्त हो जायगा, पीछे भोगकत्वरूप जो तृतीय व्यापार उससे रज और तम ये दोनों गुप्त होजायंगे, पीछे सत्त्वका आधिक्य होगा, उससे उत्पन्न हुआ जो साक्षात्कार अर्थात् प्रत्यक्ष उससे विषयकृत और भावनामात्रसे गम्य ऐसा जो साधारणीकृत इत्यादि स्थायिभाव सो भोगका विषय होकरिकै रसपदार्थ है । साक्षत्कारका स्वरूप ऐसा है कि आपका जो चिदात्मा सो ही हुआ आनन्द उसकी जो विश्रान्ति अर्थात् विगलितवेद्यान्तरतासे स्थिति सो, अथवा आपका चिदात्मास्वरूप जो आनन्द उसकी जो विगलितवेद्यान्तरतासे स्थिति तत्स्वरूप जो स्थायिभावका भोग सो ही रस है इस रसके समयमें इसही रसमें मनकी विश्रान्ति करतेहैं । इसही अभिप्रायसे ग्रन्थकारने कहा है कि मनका विश्राम जहां करते हैं सो रस है, यह बात भट्टनायकने भी कही है कि नटमें रसका आरोप नहीं है, राममें रसकी उपपत्ति भी नहीं है, आत्मामें रस व्यञ्जित भी नहीं होताहै, किन्तु अभिधारूप व्यापार जैसा काव्यमात्रमें होताहै तिसही प्रकार काव्यनाट्योंमें ही विद्यमान भावकत्व व्यापारसे साधारणीकृत जो विभावादिक सो होतसन्ते तीसरा जो भोगकत्व व्यापार उससे भाव्यमान जो स्थायी सो सत्त्वाधिक्यसे उत्पन्न जो स्वप्रकाश और आनन्दमें ऐसा संवित उसकी विश्रान्तिरूप जो पारमार्थिक भोग उससे विषय किये जाते हैं । इस पक्षमें स्थायीआदिका साधारणीकरणफलक जो भावकत्वरूप द्वितीय व्यापार उस व्यापारके विना ही रसका स्वरूप वनजायगा, फिर यह व्यापारकल्पना क्यों करनी ? इस अभिप्रायसे रसका तीसरा लक्षण कहते हैं "प्रबुद्ध" इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि प्रबुद्ध कहिये उद्बुद्ध अर्थात् अभिव्यक्त जो स्थायिभाववासना अर्थात् सूक्ष्म अवस्थापन्नसे व्यवहारके योग्य जो अनुद्बुद्ध संस्कार सो रस है । अभिप्राय इसका यह है कि सूक्ष्म अवस्थाको प्राप्त जो स्थायिभाव सो अभिव्यक्तियुक्त हो जाय वह रस है । इसके प्रबोधक अर्थात् अभिव्यञ्जक विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव हैं । इस पक्षमें भरतसूत्रका अर्थ

यह जानना चाहिये कि विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव इनके साथ इत्यादिको व्यंग्यव्यञ्जकभावरूप सम्बन्धसे रसकी अर्थात् भग्नावरणचिद्विशिष्टस्थायीकी निष्पत्ति अर्थात् स्वरूपसे प्रकाश होताहै। यह बात श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादने भी कही है। उनका यह कथन है कि लोकमें कारण कार्य इत्यादि कहकरिकै व्यवहारयोग्य जो नायिकादि उनसे स्थायिभाव रत्यादिका जो अनुमान उसमें जो अभ्यास उससे जो पटुता अर्थात् शीघ्र प्रवृत्ति होना उससे युक्त जो सामाजिक उनके वासनारूपसे अन्तःकरणमें स्थित जो रत्यादि स्थायिभाव सो काव्यमें गुणालंकारादिद्वारा, नाट्यमें अभिनयद्वारा यथोक्तविभावनात्मकव्यापारयुक्तता होनेसे अलौकिकविभावादिशब्दव्यवहारयोग्य अवस्थायुक्त नायिकादिसे अभिव्यञ्जित होते हैं, इसही हेतु अपटु बालादिको रसाऽभिव्यक्ति नहीं होती है। बहुत क्या कहैं दूसरी जो स्वाभाविकी वासना है सो भी स्थायीकी अभिव्यक्तिमें हेतु है। स्वाभाविकी वासना कैसी है कि जिस वासना विना शृंगारी भी जो मीमांसक वैयाकरणादि हैं उनको रसाऽभिव्यक्ति नहीं होतीहै। यहां यह शंका होती है कि अन्यमें स्थित जो रत्यादिक उनमें स्थित जो विभावादिक उनसे अन्यमें स्थित स्थायीकी अभिव्यक्ति किस प्रकार होगी। इसका समाधान यह है कि हमारे ही ये हैं, शत्रुके ही ये हैं, तटस्थके ही ये हैं इस प्रकारसे जो सम्बन्धिविशेषस्वीकारनियम उसका और मेरा ही नहीं है, शत्रुका ही नहीं है, तटस्थकाही नहीं है इस प्रकार जो सम्बन्धिविशेषपरिहारनियम उसका अनध्यवसाय होनेसे विभावादिकी साधारणतासे प्रतीति होती है। ऐसा हुवा तो इनका ही यह है इस निश्चयको विना जाने हुए जो विभावादिक उनको आपके असम्बन्धका अज्ञान होनेसे आपके सम्बन्धका ज्ञान होनेसे आपको स्थायिभाववासनाकी अभिव्यक्ति होवैगी, सो युक्तही है। फिर यह शंका होती है कि विभावादिकी साधारणता आवश्यक भी होगी तो भी स्थायीको साधारणता किस प्रकार होगी? क्योंकि स्थायीको तत्तत्पुरुषका असाधारणत्व है। कदाचित् यह कहो कि स्थायीको साधारणता मत रहो, असाधारणता भी रहैगी तो भी रसकी अभिव्यक्ति होवैगी, यह कहना युक्त नहीं क्योंकि ऐसा कहो तो सहृदयजनको रसाऽभिव्यक्तिमें एकरूपता नहीं होसकैगी। कदाचित् कहो कि एकरूपता मत हो, तो यह कहना भी युक्त नहीं क्योंकि ऐसे कहोगे तो अलौकिकविभावादिकल्पनामें भी विश्वास नहीं रहैगा। इसका समाधान यह है कि आपका प्रश्न ठीक है परन्तु उपायभूत विभावादिका पूर्वोक्तसाधारण्यबलसे रसाऽनुभवकालमें स्थायियोंको प्रमातृविशेषमें स्थितिरूप जो परिमितप्रमातृता उसका ज्ञान नहीं है, इस हेतु प्रका-

प्रबोधका विभावाऽनुभावव्यभिचारिणः । न च यूनोः प्रथमानुरागेऽव्याप्तिः पूर्वानुभवाभावादिति वाच्यम् । तत्राऽपि जन्मान्तरीयाऽनुभवसत्त्वादिति ।

शित हुआ जो वेद्यान्तरसम्पर्कशून्य अपरिमित भाव है जिसका ऐसा जो प्रमाता पुरुष उसने सकलसहृदयसंवादकारी जो प्रमातृविशेषसम्बन्धग्रहरूप साधारण्य उससे स्थायी चर्वणाके विषय होतेहैं । यहां यह शंका होती है कि चर्वणाविशिष्टस्थायिभावमात्र रस नहीं है क्योंकि श्रुतिसे सहृदयजनके प्रमाणसे रसको आनन्दस्वरूपताका आदर है । इसका समाधान यह है कि विज्ञानवादीके मतमें प्रवृत्तिविज्ञान जो है सो घटपटरूप आकारको धारण करताहै और घटपटविज्ञानके विषयभी कहाते हैं ऐसा हुआ तो प्रवृत्तिविज्ञानरूप जो घटपटादि सो प्रवृत्तिविज्ञानके विषय कहातेहैं जिस तरह, तिसही तरह चर्वणास्वरूपसे अभिन्न भी आत्मानन्दचर्वणाका विषय हो जायगा सो जानना । वह जो रस है सो चर्व्यमाणताका प्राण है अर्थात् जहांतक चर्वणा है तहांतक रस है, चर्वणाके नाशमें रसभी नष्ट होताहै, इस ही हेतु रस विभावादि जीवितावधि कहाताहै अर्थात् विभावादिका ज्ञान रहै तव चर्वणा होतीहै विभावादिका ज्ञान न रहै तव चर्वणा भी नहीं होती, इसही हेतु रस अनित्य चर्वणहै, रसकी चर्वणाके समयमें विभावादिका आपके असाधारणरूपसे ज्ञान नहीं होता है किन्तु पानकर सन्यायसे रसकी चर्वणा होती है इस रीतिसे जव रसकी चर्वणा होती है तव सहृदयको ऐसा मालूम होताहै कि आगे ही जैसे परिस्फुरित है, हृदयमें जैसे प्रवेश करताहै, सम्पूर्ण अंगका जैसे आलिंगन करताहै और सवका आच्छादन करता ब्रह्मास्वादकी तरह अनुभव कराता अत एव अलौकिकचमत्कारकारी शृंगारादि रस है सो यह रस विभावादिका कार्य नहीं होसकताहै, क्योंकि जो कार्य मानोगे तो विभावादि इसके निमित्त कारण ही होंगे, ऐसा होगा तो निमित्तकारणके नाशसे कार्यका नाश नहीं होताहै इस हेतु विभावादिका नाश होनेपर भी रसकी स्थिति होनी चाहिये सो होती नहीं है, इस हेतु विभावादिका कार्य इसको नहीं कहना । विभावादिको ज्ञाप्य भी नहीं कहना चाहिये क्योंकि, ज्ञाप्य वस्तुका यह नियम है कि वह पहले भी स्वरूपतः स्थित रहती है, तो रस तो पहले स्थित नहीं है । फिर किस प्रकार ज्ञाप्य होगा ? यहां यह शंका हुई कि जव रस ज्ञाप्य भी नहीं हुआ, कार्य भी नहीं हुआ, तव विभावादि न तो इसके कारक होंगे, न ज्ञापक होंगे । और हेतु कहातेहैं ऐसा हुआ तो कारक और ज्ञापक इनसे भिन्न हेतु शास्त्रमें कहीं सिद्ध नहीं है, तो विभावादि रसके हेतु कैसे होंगे ? इसका समाधान यह है कि

स च रसो द्विविधः–लौकिकोऽलौकिकश्चेति । लौकिकसन्निकर्षजन्मा रसो लौकिकः । अलौकिकसन्निकर्षजन्मा रसोऽलौकिकः । लौकिकसन्निकर्षः षो । विषयगतः ।

इसही हेतु रसको अलौकिकत्व सिद्ध होताहै, यह आलंकारिकोंको भूषण है, दूषण नहीं है । रसका विचार विशेष गूढार्थदीपिका नाम काव्यप्रकाशकी व्याख्यामें किया है, यहां विस्तारभयसे इतनाही लिखा है । जिनको विशेष जिज्ञासा होवे वे वहां देखलें ॥ अब प्रकृतका विचार करतेहैं । यहां यह शंका हुई कि प्रबुद्धस्थायिभाववासनाको रस कहते हो तो नायक नायिकाका जो प्रथमाऽनुराग अर्थात् पूर्वकी रति विभावाऽनुभावसे पूर्ण होगई है तहां रसलक्षणकी अव्याप्ति होगी, क्योंकि वहां प्रबुद्धस्थायिभाववासना नहीं है क्योंकि पूर्वकालमें विभावाऽनुभावादिका अनुभव नहीं है तो वासना नहीं होसकैगी । इसका समाधान यह है कि विभावादिका इस जन्ममें अनुभव नहीं भी हुआ है तो भी पूर्वजन्मका अनुभव तो है ही इस हेतु स्थायिभाववासना प्रबुद्धा होसकैगी, इससे अव्याप्ति दोष नहीं होगा ॥

रसका निरूपण तो कर दिया, अब रसका विभाव करना चाहिये परन्तु भरताचार्यने तो रसकी स्थिति नाट्यमें कही है, और श्रीरुद्रने काव्यमें भी रसस्थिति कही है और नाट्यकाव्यमें जिसका सम्भव नहीं है ऐसा जो रसका लौकिक भेद उसकी दोनोंने ही उपेक्षा की है, परन्तु भानुमिश्रने तो रसस्वरूप निरूपणकी प्रतिज्ञा की है इस हेतु मिश्रको यह भेद अनुपेक्षणीय हैं इस हेतु उसका विभाग करतेहैं " स च " इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि वह जो प्रबुद्धस्थायिभाववासनात्मक रस सो दो प्रकारका है, एक लौकिक दूसरा अलौकिक । तहां लौकिक सन्निकर्षसे उत्पन्न जो रस सो लौकिक है । और अललौकिक संनिकर्षसे उत्पन्न जो रस सो अलौकिक है । तहां लौकिक संनिकर्ष विषयके साथ छः प्रकारका होताहै, इसका अभिप्राय यह है कि नायक नायिकाओंका जो परस्पर अवलोकन तहां सयोगसन्निकर्ष है, और परस्परनिष्ठ जो कटाक्षादि उनके अवलोकनमें संयुक्तसमवायसंनिकर्ष है, और कटाक्षादिनिष्ठ तारल्य मन्दत्वादि जातिके अवलोकनमें संयुक्तसमवेतसमवाय संनिकर्ष है, और परस्परके शब्दश्रवणमें समवाय संनिकर्ष है शब्दनिष्ठ कोमलत्वकठोरत्वादि जातिके श्रवणमें समवेतसमवाय संनिकर्ष है, कुञ्जादिदेशमें परस्पराभावाऽवलोकनमें विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष है, ये सन्निकर्ष कुछ कामके नहीं हैं । और सुनिये वासनारूपसे स्थित जो कालान्तरके सम्पूर्ण स्थायिभाव उनका आपके अव्यवहित

प्राक्कालमें लौकिक सन्निकर्षसे ही उत्पत्ति हुई है, यह जो रसपदार्थनिविष्ट स्थायिभावमें लौकिकसन्निकर्षजन्यता है सो अलौकिकरससे भेदक नहीं है । किन्तु रसोत्पत्तिके निदानभूत जो व्यञ्जक विभावाऽनुभावव्यभिचारी उनमेंसे किसीकी चर्वणोत्पत्तिमें लौकिकसन्निकर्षजन्यत्व होय वही जन्यत्व अलौकिक रससे भेदक जानना । ऐसा हुआ तो विभावादिमेंसे एकमें भी जहां लौकिक सन्निकर्ष होय और दोमें अलौकिक सन्निकर्ष होय तहां भी रस लौकिक ही जानना । यद्यपि व्यभिचारिभाव जो है सो आन्तर है उसमें लौकिक सन्निकर्ष नहीं होसकता है । ऐसा हुआ तो व्यभिचारिभावका उपादान निरर्थक होगया तो भी जिस प्रकार रसव्यञ्जक विभावाऽनुभावमें लौकिकसन्निकर्ष अपेक्षित होताहै तिस ही प्रकार रसव्यञ्जक जो व्यभिचारिभावादि उनके अभिव्यञ्जक जो विभावाऽनुभाव उनमें जो लौकिक सन्निकर्ष है उसको भी लौकिक भेदका नियामक मानना युक्त ही है । यहां लौकिक भेद नहीं जानना चाहिये, इसही हेतु व्यभिचारिभावका उपादान चर्वणोत्पत्तिमें लौकिकसन्निकर्षजन्यता जो लौकिक रसकी भेदक कही है तहां कियाहै । ऐसा हुआ तो विभावमात्रको संयोगसन्निकर्षमात्रसे ग्रहणयोग्यत्व है, तथापि गुण वा क्रिया तथा तद्गतवैजात्यादिघटितमूर्तिक अनुभावका छः इन्द्रियोंसे यथायोग्य ग्रहण होसकैगा, इस हेतु नैयायिकको जिस प्रकार सन्निकर्षषट्कभेदसे प्रत्यक्ष छह कहाते हैं, इसही प्रकार लौकिक रसभी छः प्रकारका होगा सो जानना । सामान्यलक्षणसन्निकर्ष, योगजलक्षणसन्निकर्ष ये दोनों न्यायशास्त्रमें सन्निकर्षोंमें प्रसिद्ध भी हैं तो भी प्रकृतमें उनका उपयोग नहीं है इस हेतु ज्ञानरूप जो अलौकिक सन्निकर्ष सो अलौकिक रसमें उपयुक्त जानना । अब यहां यह शंका हुई कि अलौकिक रसके जो तीन भेद हैं तहां प्रथम जो स्वाप्निक भेद कहैंगे सो नहीं बन सकताहै क्योंकि विभावादिके अनुभव विना चर्वणा नहीं होसकती है स्वप्नकालमें विभावादिका अनुभव है नहीं तो स्वाप्निक रस कैसे होगा । इसका समाधान यह है कि स्वप्नस्थलमें भी जाग्रत् अवस्थामें जो विभावादिका अनुभव किया है सोही अनुभव साक्षात् अर्थात् स्वविषयविभावाऽनुभावव्यभिचारिभावचर्वणाऽव्यवहितप्राक्कालवृत्तित्वसम्बन्धसे विभावादिमें स्थित होकरिके रसको सम्पन्न करैगा । जहां एतज्जन्माऽननुभूत ही विभावादि हैं, तहां भी पूर्वजन्मका विभावादिका अनुभव स्वविषयविभावाऽनुभावव्यभिचारिचर्वणाऽव्यवहितप्राक्कालिक जो जन्मान्तरीयाऽनुभवजन्यसंस्कार तादृशसंस्कारविषयत्व सम्बन्धसे स्वाप्निक जो विभावादिपदार्थ उनमें स्थित है, उसके बलसे स्वप्नमें रससम्पत्ति होगी इस प्रकारसे दोनों ही स्थलमें ज्ञानलक्षण प्रत्यासत्तिसे रससम्पन्न हुआ इस हेतु यह

अलौकिकसन्निकर्षो ज्ञानम्। तेषु चानुभूतेषु साक्षादेतज्जन्माऽननुभूतेष्वपि तेषु प्राक्तनसंस्कारद्वारा ज्ञानमेव प्रत्यासत्तिः। अलौकिको रसस्त्रिधा। स्वाप्निको मानोरथिक औपनायिकश्चेति। औपनायिकश्च काव्यपदपदार्थचमत्कारे नाट्ये च। परन्तु द्वयोरप्यानन्दरूपता।

ननु मानोरथिको रसो न प्रसिद्ध इति चेत्। सत्यम्—

धन्यानां गिरिकन्दरे निवसतां ज्योतिः परं ध्यायता-
मानन्दाश्रुपयः पिबन्ति शकुना निश्शंकमंकेशयाः।
अस्माकन्तु मनोरथोपरचितप्रासादवापीतट-
क्रीडाकाननकेलिकौतुकजुषामायुः परिक्षीयते ॥ १ ॥

अलौकिक रस कहाया। सो ही बात "तेषु" इत्यादि वाक्यसे कहते हैं। वाक्यार्थ यह है कि विभावादिक जहां अनुभूत हैं तहां तो अनुभूतविभावादि होत सन्तें साक्षात् अर्थात् उक्तसम्बन्धसे ज्ञान ही अर्थात् जाग्रत् अवस्थाके विभावादिका अनुभव ही इन्द्रियका अलौकिक सम्बन्ध है, और जहां स्वप्नका पदार्थ एतज्जन्ममें अनुभूत नहीं है ऐसे विभावादि होत सन्ते प्राक्तनसंस्कारद्वारा अर्थात् संस्कारघटित पूर्वोक्तसम्बन्धसे पूर्वजन्मका अनुभवरूप ज्ञान ही इन्द्रियका अलौकिक सम्बन्ध है। अलौकिक रस तीन प्रकारका है—स्वाप्निक, मानोरथिक और औपनायिक। तीनों ही प्रकारके रसमें विभावादिकी उपस्थिति समान ही है तो भी भिन्न भिन्न सामग्रीका सम्पादक स्वप्न और मनोरथ ये दोनों वस्तु स्फुटतासे कह दी हैं।

औपनायिक रसमें इन दोनों रसोंसे भेद दिखानेके अर्थ इस रसका विषय कहते हैं "औपनायिकश्च" इत्यादिसे। इसका अर्थ यह है कि काव्यका जो पद और पदार्थ उसका चमत्कार होत सन्तें औपनायिक रस होताहै, और नाट्यमें भी इस ही रीतिसे होताहै, इस हेतु काव्य नाट्य इन दोनोंका रसमें परस्पर सामर्थ्यवैचित्र्य नहीं जानना। इन दोनोंको एक ही प्रमाण जानना चाहिये। आहार्यादि जो अभिनयचतुष्टय उसको नाट्य कहतेहैं। स्वाप्निक और मानोरथिक इन दोनोंमें दुःखमिश्रित भी रस होतेहैं तो भी काव्य नाट्यमें एकरूप ही रस होताहै सो जानना। अब यहां यह शंका होती है कि मानोरथिक रस लोकमें प्रसिद्ध नहीं है फिर यह रस किसतरह कहा। इसका समाधान यह है कि "धन्यानाम्" इत्यादि श्लोकमें मानोरथिक शृंगार रसका श्रवण है इस हेतु मानोरथिक भी रस है सो जानना। श्लोकार्थ यह है कि कोई पुरुष कहता है कि पर्वतकी कन्दरामें निवास करनेवाले

इत्यादौ मानोरथिकशृंगारश्रवणात्, शास्त्रे सुखस्य त्रैविध्य-गणनाच्च रसेन विना च सुखाऽनुत्पत्तेरिति । तत्र विशेषाः। यदाह भरतः-

शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ च नाट्ये चाष्टौ रसाः स्मृताः ॥ २ ॥

सकलाधिदैवतं विष्णुः, स च शृङ्गारस्याऽपि दैवतम्, तेन सकलाकांक्षाविषयत्वेनाराध्यतया च प्रथमं शृङ्गारोपन्यासः ।

और परज्योतिका ध्यान करनेवाले जो धन्य पुरुष हैं उनके आनन्दाश्रुजलको निःशंक अंकमें सोतेहुए जो पक्षी सो पान करते हैं । और हमारा तो मनोरथसे कल्पित जो महल और वापीतट और क्रीडावन और केलिविषयक कौतुक इनका सेवन करनेमें आयु क्षीण होताहै । यहां मानोरथिक शृंगार रसके उद्दीपन विभावोंका वर्णन है सो जानना । और शास्त्रमें सुख तीन प्रकारका कहा है सो सुख रस विना उत्पन्न नहीं होसकता है इस लिये मानोरथिक भी रस मानना चाहिये ।

अब रसके विशेष कहते हैं तहां भरतसम्मति दिखाते हैं "शृंगार" इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि नारायण भट्ट अद्भुत रसही एक मानतेहैं, और कोई आलंकारिक शृंगारही रस मानते हैं, और आधुनिक कवि बारह प्रकारका रस मानते हैं सो सम्पूर्ण अयुक्त है, इस हेतु भरतजी कहते हैं कि शृंगार हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत ये आठ रस नाट्यमें कहे हैं । यह कहनेका अभिप्राय यह है कि काव्यमें भी इतने रस हैं इसमें विवाद नहीं है । अब यहां यह शंका हुई कि भरतमुनिने कारिकामें प्रथम शृंगारकी गणना क्यों की ? इसका समाधान यह है कि सकलका अधिदैवत अर्थात् अन्तरात्मा विष्णु हैं और शृंगारके भी देवता वेही हैं इस हेतु और सकलका आकांक्षाविषय होनेसे यह शृंगार रस पूज्य है इस हेतु प्रथम शृंगार रसकी गणना की सो जानना । अब यहां यह शंका होती है कि आठही रस किस प्रकार कहते हो ? १ वात्सल्य, २ भक्ति, ३ लौल्य, ४ कार्पण्य यह चार रस और कहने चाहियें, क्योंकि इन चारों ही रसोंको क्रमसे आर्द्रता, अभिलाष, श्रद्धा, स्पृहा ये चारों ही स्थायिभाव हैं । फिर आठही रस क्यों कहते हो । इसका समाधान यह है कि वात्सल्यादि चारों व्यभिचारिभावरूप रतिस्वरूप हैं

ननु वात्सल्यं लौल्यं भक्तिः कार्पण्यं वा कथं न रसः। आर्द्रताऽभिलाषश्रद्धास्पृहाणां स्थायिभावानां सत्त्वादिति चेन्न। तेषां व्यभिचारिरत्यात्मकत्वात्। ननु कस्य रसस्य ते व्यभिचारिभावा भवेयुरिति चेत्। सत्यम्; वात्सल्ये करुणो रसः। लौल्ये हास्यः। भक्तौ शान्तः। कार्पण्ये हास्य एव। नन्वेवं परत्र क्लृप्तत्वादत्र व्यभिचारित्वेनावश्यकत्वाद्धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पनायां लघुत्वाच्च व्यभिचारिरतिरेवाऽस्तु किं करुणेनेति चेन्न। रतेः शोक इति शोककारणतायां रतेरुपक्षयत्वात्।

इससे इनको रसस्वरूप नहीं जानना। फिर शंका हुई कि रसमें स्थिति हुये विना व्यभिचारिभाव तो हो नहीं सकते हैं तो ये किस रसके व्यभिचारिभाव होंगे सो कहो। इसका समाधान यह है कि वात्सल्य होनेपर करुणही रस होता है, लौल्य होनेपर हास्य ही रस होता है, भक्ति होनेपर शान्तही रस होता है; कार्पण्य होनेपर भी हास्य ही होता है. इस हेतु वात्सल्य तो करुण रसका व्यभिचारी है, और लौल्य तथा कार्पण्य ये दोनों हास्यके व्यभिचारिभाव हैं। और भक्ति शान्त रसका व्यभिचारिभाव है,क्योंकि वात्सल्यादि करुणादिको पुष्ट करते हैं सो जानना। अब यहां यह शंका होती है कि वात्सल्यादिको करुणादि रसोंमें व्यभिचारिरतिरूप मानें तो भी शृंगार रसमें स्थायिभावतासे रति मानीही गई, और करुणरसमें व्यभिचारिभावतासे रति आवश्यक है, इस हेतु और प्रधानभूत करुणरसकल्पनाकी अपेक्षा पोषकतासे आवश्यक जो रतिमात्र उसकी कल्पनामें लाघव है क्योंकि रसकल्पना नहीं करनी पडैगी। व्यभिचारिभाव रतिकल्पनासे ही कार्यसिद्धि होजायगी, इस हेतु करुण रस नहीं मानना, व्यभिचारिरूपरति ही मानना। इसका समाधान यह है कि रति जो है सो शोकका कारण है इस हेतु शोकको सम्पन्नकरिकै रति क्षीण होजायगी, ऐसा हुवा तो करुणचर्वणापर्यन्त रति नहीं रहेगी इस हेतु करुण रस मानना आवश्यक होगा। और सुनो कि करुणरस माने विना रतिको व्यभिचारिभावता भी उपपन्न नहीं होगी क्योंकि किस रसका व्यभिचारी रतिको मानोगे ? शृंगार, हास्य, रौद्र, वीर, इनका नहीं मान सकते हो, क्योंकि युवति युवाओंका परस्परप्रीतिरूप जो शृंगार और हास और क्रोध और आनन्द अर्थात् उत्साह इन

किञ्च रतेः कस्य रसस्य व्यभिचारित्वम् । न शृङ्गारहास्यरौद्रवीराणाम्, युवमिथुनपरस्परप्रीतिहासक्रोधानन्दानां तत्राभावात् । न वा बीभत्सस्य, जुगुप्सायास्तत्राऽभावात् । नाप्यद्भुतस्य, विस्मयस्य तत्राऽस्थिरत्वात् । तस्माच्छोकस्य स्थायितया शोकस्थायिभावकः करुणाख्योऽतिरिक्तो रस इति । ननु रतिरेवास्तु, किं हास्येनेति चेत् । कस्याऽसौ व्यभिचारिणी, करुणरौद्रवीरभयानकबीभत्सानां न, तत्राऽनवकाशात् । नाप्यद्भुतस्य, विस्मयस्य तत्राऽस्थिरत्वात् । न शृङ्गारस्य, रतेः स्थायित्वाभावात् । परन्तु रत्या सह हास्यस्य सांकर्यम् । ननु रतिहास्ययोरसंकीर्णस्थलाभावात्पृथक्त्वं कथं स्यादिति चेन्न । हेतोरसाधारण्यात् । असाधारण्यमत्र स्थायित्वम् । यथा रतिसांकर्येऽपि स्थायिशोकादसाधारणात्कारणात्करुणो भिद्यते, तथा तत्सांकर्येऽपि स्थायिहासभावादसाधारणात्कारणाद्धास्यो भिद्यते । शान्तेप्येवमूह्यम् ।

चारोंकी करुणस्थलकी रतिमें स्थिति नहीं है, तो इन चारोंका व्यभिचारी रति कैसे होगा, बीभत्सका भी व्यभिचारी नहीं है, क्योंकि बीभत्सका स्थायी जो जुगुप्सा सो रतिस्थलमें नहीं है । और अद्भुतका भी व्यभिचारी नहीं होसकताहै, क्योंकि विस्मयकी रतिमें स्थिरता नहीं है किन्तु विस्मय वहां विद्युद्विद्योतप्राय है इस हेतु करुण रसका शोक स्थायी होनेसे शोक है स्थायिभाव जिसका ऐसा करुणनाम रस मानना ही चाहिये । यहां फिर यह शंका होती है कि हास्य रस नहीं मानना किन्तु हास्यस्थलमें व्यभिचारी रति ही मानना । इसका समाधान यह है कि यह रति किसकी व्यभिचारिणी होगी ? कदाचित् कहो कि करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स इनकी व्यभिचारिणी होगी, सो नहीं बनैगा । क्योंकि इन सबका उक्त रतिस्थलमें अभाव है, इस हेतु इनका व्यभिचारी नहीं होसकैगा । अद्भुतका व्यभिचारी कहोगे तो सो भी नहीं होसकैगा, क्योंकि विस्मयकी वहां स्थिरता नहीं है । शृंगारका व्यभिचारी कहो सो भी नहीं होसकताहै क्योंकि

न च वात्सल्यादावप्यसाधारणा हेतव आर्द्रतादयः सन्तीति तेषामपि रसत्वापत्तिरिति वाच्यम् । आर्द्रतादीनामपि रतित्वात् । तस्याश्च तत्रतत्र साधारण्ये शृङ्गाररसत्वापत्तिः । ननूत्साहक्रोधावुभयत्र तस्माद्वीररौद्रयोरन्यतर एव रसो वर्ततामिति चेन्न, स्थायिभेदेन भेदात् । उत्साहवा-

---

शृंगारका स्थायी जो रति है सो हास्यका स्थायी नहीं है, तो वह रति शृंगारका व्यभिचरी कैसे होगा ? परन्तु रतिके साथ हास्यरसका सांकर्य है इसका निवारण नहीं कर सकते हैं सो जानना । फिर यह शंका होती है कि रति और हास्य इन दोनोंके एक स्थल रहनेसे इन दोनोंका भेद किस प्रकार होगा ? इसका समाधान यह है कि हेतुको असाधारण्य होनेसे भेद है, असाधारण्य यहां स्थायित्वरूप लेना ॥ जिस प्रकार करुण रसमें रतिका सांकर्य भी है तो भी स्थायिशोकरूप असाधारण कारणसे करुण रस रतिसे भिन्न होताहै, तिस प्रकार हास्य रसमें रतिका सांकर्य भी है तो भी स्थायिहासरूप असाधारण कारणसे हास्य रस रतिसे भिन्न होताहै । यही न्याय शान्त रसमें भी कह देना, अर्थात् शान्त रसको रतिसांकर्य भी है तो भी निर्वेदस्थायीरूप असाधारण कारणसे शान्त रस रतिसे भिन्न जानना । अब यहां यह शंका होती है कि असाधारण स्थायिभाव होनेसे ही रस मानो तो वात्सल्यादिमें भी असाधारण हेतु आर्द्रतादि है ही तो उन असाधारण हेतुओंसे वात्सल्यादिको भी रस मानना चाहिये । इसका समाधान यह है कि आर्द्रतादि भी रतिरूप हैं उनको वात्सल्यादिका स्थायित्व नहीं है । यदि आपकी प्रौढतासे आर्द्रतादिरूप रतिको वात्सल्यादिमें असाधारण हेतु मानो तो वात्सल्यादि भी रतिरूपस्थायिभावक होनेसे शृंगाररसरूप होजायंगे, इस हेतु वह आर्द्रतादिरूप रति वात्सल्यादिका स्थायी नहीं है सो जानना । यहां यह शंका होती है कि आर्द्रतादिरूप रतिको स्त्रीपुरुषविषयकत्व नहीं है इस हेतु वात्सल्यादि शृंगाररसरूप कैसे होंगे ? इसका समाधान यह है कि रतिसे उत्पन्न जो स्त्रीपुरुषविषयक शोक उस शोकप्रकृतिक होनेसे अवश्य कल्पनीय जो करुण रस उसका पोषक रतिरूप आर्द्रतादिको माननेसे ही उपपत्ति होगी । यहां वात्सल्यादि रसान्तर माननेमें कुछ प्रमाण नहीं सो जानना । फिर शंका होती है कि उस करुण रसमें रति प्रकृतिकत्व मानना अथवा रतिसम्भूतशोक प्रकृतिकत्व मानना, इसमें कोई विनिगमक नहीं, इस हेतु जो

सना वीरे न तु रौद्रे । क्रोधवासना रौद्रे न तु वीरे । यूनोः परस्परं परिपूर्णः प्रमोदः सम्यक्सम्पूर्णरतिभावो वा शृङ्गारः । यूनोरेकत्र प्रमोदस्य रतेर्वाधिक्ये न्यूनतायां व्यतिरेके वा परिपूर्तेरभावात् रसाभासत्वमिति । स च द्विविधः—संयोगो विप्रलम्भश्चेति । तत्र दर्शनस्पर्शनसंलापादिभिरितरेतरमनुभूयमानं सुखं परस्परसंयोगेनोत्पद्यमान आनन्दो वा संयोगः । संयोगो बहिरिन्द्रियसम्बन्धः । अस्य दैवतं विष्णुर्वर्णः श्यामः । यथा—

रतिप्रकृतिकत्व भी करुणका मानो तो करुणको भी शृंगाररसत्वापत्ति होगी। इसका समाधान यह है कि दूसरे रसमें विजातीयप्रकृतिकत्वका सम्भव होते सन्ते रसान्तरप्रकृतिकत्व मानना उचित नहीं इस लिये और रतिके अनुभावसे विरुद्ध अनुभाव होनेसे रतिविजातीय जो शोक तत्प्रकृतिकत्वका करुणमें अध्यवसाय होताहै, इस हेतु रतिप्रकृतिकत्व इसको नहीं है, ऐसा हुआ तो करुणको शृंगाररसत्वापत्ति नहीं हुई, इस ही हेतु पहले कह आयेहैं कि करुणचर्वणाके समयमें रतिका नाश होजाताहै सो जानना। तो रतिप्रकृतिक करुण रस नहीं कहाया। अब यह शंका होती है कि उत्साह और क्रोध ये दोनों क्रमसे रौद्र, वीरमें होतेहैं इस हेतु रौद्र, वीर दोनोंमेंसे एकको रस मानना चाहिये और एकको व्यभिचारीरतिरूप मानना चाहिये। इसका समाधान यह है कि स्थायिभावभेदसे रसभेद होगा सो भेद इस प्रकार है कि उत्साहकी वासना वीरमें रहती है रौद्रमें नहीं रहती है, और क्रोधकी वासना रौद्रमें रहती है वीरमें नहीं रहती है, यह कहनेका अभिप्राय यह है कि वीर रसमें क्रोध व्यभिचारी रतिरूप होगा तो भी रौद्रमें स्थायी है, इस ही प्रकार उत्साहको रौद्रमें व्यभिचारित्व है तो भी वीरमें स्थायित्व है, इस हेतुसे और एकको रसरूप मानना एकको न मानना इसमें प्रमाण न होनेसे दोनों ही रसरूप हैं। इसमें विवाद नहीं करना ॥

स्थायीसे युक्त जो आनन्द अथवा आनन्दसे युक्त जो स्थायी सो रस है, यह पूर्व कहाहै उस हीके अनुसार प्रथम शृंगारका लक्षण कहतेहैं "यूनोः परस्परम्" इत्यादि वाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि युवति और युवा इनका परस्परपरिपूर्ण अर्थात् यथोचित विभावाऽनुभावव्यभिचारिनिष्पन्नरतियुक्त जो प्रमोद अर्थात्

स्तोभेन चाटुवचनानि पराहतानि
पाणिः पयोधरगतो जडतां जगाम।
लक्ष्म्याः परन्तु पृथुवेपथुरेव नीवीं
विस्रंसयन्सुहृदभून्मधुसूदनस्य॥ ३॥

यथा वा—

निद्राणो क्षणमुन्नमय्य वदनं कान्ते कुचान्तःस्पृशि
स्रस्तव्यस्तदुकूलदर्शितवलिप्रव्यक्तनाभिश्रियः।

आनन्द सो शृंगार रस है। अथवा सम्यक् कहिये उचिततासे परिपूर्ण अर्थात् विभावाऽनुभावव्यभिचारियोंसे भग्न हुआ है आवरण जिसका ऐसा जो चित् तादृशचित्से युक्त जो रतिरूप स्थायिभाव सो शृंगार है। ऐसा हुआ तो यहां युवति युवा इन दोनोंमें एकका प्रमोद वा रति अधिक होय वा न्यून होय वा एकमें होय ही नहीं, तहां परिपूर्णताका अभाव होनेसे रसाभास जानना, रस नहीं जानना। यह कहनेसे लक्षणमें परस्पर औचित्यका प्रयोजन दिखा दिया। जो औचित्यपद न देते तो यह भी शृंगार कहा जाता सो जानना। वह शृंगार दो प्रकारका है, एक सम्भोग दूसरा विप्रलम्भ। तहां दर्शन, स्पर्शन, संलाप, अर्थात् परस्परभाषण इत्यादिसे परस्पर जो अनुभूयमान सुख सो सम्भोग है, अथवा परस्परसंयोगसे अर्थात् बहिरिन्द्रियसम्बन्धसे उत्पद्यमान जो आनन्द सो संभोग है। शृंगार रसका देवता विष्णु है। और वर्ण श्याम है। यद्यपि शृंगार रसको अमूर्तत्व होनेसे श्याम वर्णका संभव नहीं है तथापि इसका देवता जो विष्णु सो श्यामवर्ण है उस देवताकी अभेदबुद्धि रसमें करिके शृंगार रसमें भी श्यामवर्णका व्यवहार है सो जानना। इसका उदाहरण "**स्तोभेन**" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि मधुसूदनके चाटु वचन अर्थात् प्रिय वाक्य जे हैं ते स्तोभ कहिये प्रलयस्वरभंगादिसात्त्विकभाव-संबन्धसे निवृत्त होगये। और मधुसूदनका जो हस्त है सो स्तनमें प्राप्त होत सन्ते जडताको प्राप्त होगया, तथापि लक्ष्मीका गुरुभूत कंपही नीवीका मोचन करता हुआ मधुसूदनका मित्र होगया अर्थात् उनके कार्यका करनेवाला हुआ॥

इसका द्वितीय उदाहरण कहते हैं "**निद्राणः**" इत्यादि श्लोकसे। श्लोकार्थ यह है कि निद्रासे मुकुलित नेत्र हैं जिसमें ऐसे मुखको ऊँचा करिके स्तनके मध्यमें स्थापित कियाहै हस्ताग्र जिसने ऐसा कृष्ण होत सन्ते प्रथम तो शिथिल और पीछे पतित

राधाया दरघूर्णदुत्पलदलद्रोणीमदद्रोहिभि-
र्दृक्कोणस्य तरंगितैर्विरचितो दीर्घायुरेव स्मरः ॥ ४ ॥

देशानां समयानां नायिकानां च भेदेन नायकयोरवस्था-भेदेन च बहवो भेदाः । ते च रसमञ्जर्यां विशेषतो दर्शिताः । इह पुनर्विस्तरभिया न प्रदर्श्यन्त इति ॥

अथ हावा निरूप्यन्ते । तत्र भरतः-

लीला विलासो विच्छित्तिर्विभ्रमः किलकिञ्चितम् ।
मोट्टायितं कुट्टमितं विव्वोको ललितं तथा ॥
विहृतं चेति विज्ञेया दश हावास्तु योषितः ॥ ५ ॥

नारीणां शृंगारचेष्टा हावः । स च स्वभावजो नारीणाम् ननु विव्वोकविलासविच्छित्तिविभ्रमाः पुरुषाणामपि सम्भ-

ऐसा जो दुकूल उसमें दिखाई गई जो त्रिवली और मकटनाभि उससे शोभा-युक्त ऐसी राधाके ईषत्कम्पयुक्त कमलपत्रका जो पुट उसके मदको नहीं सहनेवाली अर्थात् मदसे सुन्दर ऐसे जो दृष्टिके कोणके तरंगित अर्थात् नेत्रप्रान्तके पतन उनमें स्मर जो कामदेव सो दीर्घायु ही किया गया । देश, समय, नायिका इनके भेदसे और नायक नायिकाओंकी अवस्था अर्थात् स्वभावभेदसे शृंगार रसके बहुत भेद हैं सो रसमञ्जरीमें विशेषतः दिखाये हैं, यहां विस्तारभयसे नहीं दिखाते हैं।

अब यहां प्रसंगसंगतिसे हावनिरूपणकी प्रतिज्ञा करते हैं "अथ" इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि सम्भोगशृंगारनिरूपणानन्तर हावोंका निरूपण करते हैं । हावोंका नाम "तत्र" इत्यादि वाक्यसे कहते हैं । वाक्यार्थ यह है कि स्त्रियोंके लीला आदि दश हाव हैं। सामान्यसे हावका लक्षण यह है कि स्त्रियोंकी जो शृंगारचेष्टा अर्थात् सम्भोगशृंगारानुगुण व्यापारविशेष सो हाव है । वह स्त्रियोंको स्वभावसिद्ध है ऐसा हुआ तो नारीस्वभावसे उत्पन्न होत सन्ते जो शृंगाराऽनुगुण चेष्टा उसका हाव कहना । यहां सत्यन्तका फल "ननु" इत्यादि ग्रन्थसे कहते हैं । इसको अर्थ यह है कि विव्वोक, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम ये चार शृंगारचेष्टा पुरुषोंको भी होसकती हैं, तो इनको भी हाव कहनाचाहिये, इसही दोषके वारणके निमित्त सत्यन्त विशेषण देना तब यह दोष नहीं होगा, क्योंकि पुरुषोंकी जो ये चेष्टा हैं सो औपाधिक हैं अर्थात् उद्दीपक

वन्तीति चेत्। सत्यम्, तेषान्त्वौपाधिकाः स्वभावजाः स्त्रीणामेव। नन्वेवं यदि तासां सदैव ते कथं न भवन्तीति चेत्। सत्यम्, उद्दीपकान्वयव्यतिरेकाभ्यां नायिकानां हावाविर्भावतिरोभावाविति। लीलाविलासविच्छित्ति-विभ्रमललितानि शारीराणि। मौट्टायितकुट्टमितविव्वोक-विहृतान्यान्तराणि। किलकिञ्चितमुभयसङ्कीर्णमिति। प्रियभूषणवचनाद्यनुकृतिर्लीला। तत्र विभावः सखीकौतुककलापः। अनुभावः प्रियपरिहासः। यथा—

निष्ठ जो उत्कर्षरूप उपाधि उसकी सत्तासे नियत है सत्ता जिनकी ऐसे हैं। और ये विव्वोकादिक स्त्रीकोही स्वभावसे हैं अर्थात् उद्दीपकस्वरूपमात्रसत्तासे नियत है सत्ता जिनकी ऐसे हैं, इससे पुरुषचेष्टा जो विव्वोकादि उनमें अतिव्याप्ति नहीं हुई। यहां कोई अभिप्रायानभिज्ञ शंका करते हैं कि ऐसा ही मानते हो तो स्त्रियोंको ये चेष्टा सदैव क्यों नहीं होती हैं क्योंकि स्वभाव चिरन्तन होताहै, इस हेतु इन चेष्टाओंको भी सदा होना चाहिये। इसका समाधान आपके अभिप्रायका प्रकाशकरिके करते हैं कि नायिकाओंका जो हावका आविर्भाव वा तिरोभाव सो उद्दीपकके अन्वय व्यतिरेकका अनभिधान करताहै अर्थात् उद्दीपन करताहै तब इन चेष्टाओंका आविर्भाव रहताहै। और उद्दीपक न रहें तब इनका तिरोभाव होजाताहै, पुरुषको तो उद्दीपकातिशयके साथ अन्वय व्यतिरेक होता है इस हेतु स्त्रियोंको सदा हाव नहीं होतेहैं सो जानना। अब हावोंका विभाग करते हैं कि लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम और ललित यह पांच शरीरमात्राश्रित हैं। और मोट्टायित, कुट्टमित, विव्वोक और विहृत ये चार आन्तर अर्थात् मनोमात्राश्रित हैं। और किलकिञ्चित शरीर और अन्तर उभयाश्रित हैं, इसका अभिप्राय यह है कि श्रम जो है सो तो शारीर है, और अभिलाष जो है सो आन्तर है, इस हेतु गर्व, स्मित, हर्ष, भय और क्रोध इनको स्वरूपसे किलकिञ्चित मानो तब तो ये आन्तर हैं, और फलकरिके किलकिञ्चित मानो तो शारीर हैं. इस हेतु एतदन्यतमघटितसमुदायात्मक किलकिञ्चितको उभय संकीर्णत्व है सो जानना।

अब प्रथमोद्दिष्ट लीलाका लक्षण कहते हैं "प्रियभूषण" इत्यादि वाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि पतिके भूषण वा वचन इत्यादिका जो अनुकरण

चण्डांशौ चरमाद्रिचुम्बिनि मनो जिज्ञासितुं सुभ्रुवां
न्यञ्चत्कौतुकया तया विरचिते वंशीरवे राधया ।
एष स्फूर्जति कस्य निस्वन इति क्रोधाद्व्रजन्काननं
राधां वीक्ष्य लताप्रतानपिहितां स्मेरो हरिः पातु नः ॥ ६ ॥
गमननयनवदनभ्रूप्रभृतीनां यः कश्चिदुत्पद्यते विशेषः स विलासः । अत्र विभावाः प्रियदर्शनस्मरणादयः। अनुभावा अभिलाषवैदग्ध्यप्रकाशनादयः । यथा-
कूजत्काञ्चि दरस्फुरद्वलि चलद्भ्रूवल्लि वेल्लद्वपु-
र्वल्गत्कुण्डलकान्ति साचिचलितग्रीवं लपन्त्या वचः ।
प्रातर्नर्तितपुण्डरीकपरिषत्पांडित्यपाटच्चरी-
दृष्टिर्यं प्रति जायते वरतनोर्वक्रा स शक्राधिकः ॥ ७ ॥

सो लीला है । इसका विभाव सखीके साथ कौतुककलाप है । अनुभाव प्रियपरिहास है। इसका उदाहरण "चण्डांशौ" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि सूर्य अस्ताचलको प्राप्त होत सन्ते सुन्दर भ्रुकुटियुक्त नायिकाओंकी अन्तःकरणवृत्तिकी परीक्षा करनेके अर्थ उत्पन्न हुआ है कौतुक जिसको ऐसी प्रौढ राधाने मुरलीका नाद करत सन्ते "यह शब्द किसका है" इस प्रकार क्रोधसे राधाश्रित वनको जाताहुआ विस्तृत लतासे ढकी हुई राधाको देखकरिके स्मितयुक्त कृष्ण हमारी रक्षा करो ।

अब विलासका लक्षण कहतेहैं 'गमन" इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि गमन, नयन, वदन, भ्रू इत्यादिका जो कोई विशेष उत्पन्न होता है सो विलास है। इसके विभाव प्रियका दर्शन, प्रियका स्मरण इत्यादि हैं । और अनुभाव-अभिलाष. चतुरताका प्रकाश करना इत्यादि हैं । इसका उदाहरण "कूजत्काञ्चि" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि शब्दयुक्त है मेखला जिस क्रियामें जैसे होय तैसे, और ईषत् प्रकाशित होती है त्रिवली जिस क्रियामें जैसे होय तैसे, और चलती हुई है भ्रूवल्ली 'अर्थात् वल्लीसदृश भ्रू जिस क्रियामें जैसे होय तैसे, और चलायमान है शरीर जिस क्रियामें जैसे होय तैसे, और चलायमान कुण्डलकी शोभा है जिस क्रियामें जैसे होय तैसे,और वक्र है ग्रीवा जिस क्रियामें जैसे होय तैसे वचनका आलाप करतीहुई ऐसी

कतिपयभूषाविन्यासो विच्छित्तिः। तत्र विभावाः सौकुमार्यप्रियसौभाग्यसौन्दर्यगर्वक्रोधक्लेशादयः । अनुभावा गर्वमानक्लेशप्रकाशनादयः। यथा—

केयूरं न करे पदे न कटकं मौलौ न माला पुनः
कस्तूरीतिलकं तथाऽपि तनुते संसारसारं श्रियम्।
सर्वाधिक्यमलेखि भालफलके यद्वेधसा सुभ्रुवो
जानीमः किमु तत्र मन्मथमहीपालेन मुद्रा कृता ॥ ८ ॥

वागङ्गभूषणानां स्थानविपर्यासो विभ्रमः। तत्र विभावा धनमदरागौत्कट्यादयः। अनुभावाः प्रियसख्याद्युपहासादयः। यथा—

त्यक्ते केलिविधौ निजांशुकधिया पीताम्बरस्यांशुकं
पद्मायाः परिधाय पद्मशयनात्प्रातः प्रयान्त्या बहिः।

जो सुन्दरशरीरयुक्त नायिका उसकी प्रातःकालमें नृत्य करते हुए जो कमल उनकी जो प्रभा उसकी जो शोभा उसका अपहरण करनेवाली ऐसी दृष्टि जिस पुरुषको उद्देश करिकै वक्र होती है वह पुरुष अनायाससे स्वर्गफलाभिमुखरूप होनेसे इन्द्रसे अधिक है।

अब विच्छित्तिका लक्षण कहते हैं " कतिपय " इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि कुछ भूषणोंका जो धारण करना सो विच्छित्ति है। इसके विभाव—सुकुमारता, प्रियकी उदारता, सौन्दर्य, गर्व, क्रोध, क्लेश इत्यादि हैं और अनुभाव—गर्व, मान और क्लेश, इनका प्रकाश करना है। इसका उदाहरण "केयूरम्" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं, श्लोकार्थ यह है कि यद्यपि हाथमें बाहुभूषण नहीं है; और पगमें कटक नहीं है, और मस्तकमें माला नहीं है, तथाऽपि ललाटमें जो कस्तूरीतिलक है सो सर्वातिशययुक्त शोभाको करता है । (इसमें उत्प्रेक्षा करते हैं कि) मानो ब्रह्माने इस नायिकाके ललाटदेशमें जो सब विधिका अर्थात् ललनाचूडामणित्व लिखा है उसमें कामदेवरूप राजाने यह कस्तूरीतिलकरूप जो मुद्रा है सो यथार्थताको सूचन करनेके निमित्त कीहै, यह बात जानते हैं ॥ अब विभ्रमका लक्षण कहतेहैं " वागङ्ग " इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि वचन, अंगभूषण इनका जो स्थानविपर्यय अर्थात् स्थानका उलटापलटा होना सो विभ्रम है। इसके विभाव—धन, मद, राग इनकी उत्कटता है और अनुभाव—प्रिय और सखी इनका परिहास है। इसका उदाहरण "त्यक्तेकेलि" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ

आदातुं वसनाञ्चलं चपलयन्कोपं दृशा दर्शयन्
वाचा कौतुकमाचरन्स्मितसुधास्निग्धो हरिः पातु नः ॥ ९ ॥
श्रमाभिलाषगर्वस्मितहर्षभयक्रुधां सङ्करः किलकिञ्चितम् ।

तदाह–

श्रमाभिलाषगर्वाणां स्मितहर्षभयक्रुधाम् ।
असकृत्सङ्करः प्राज्ञैर्विज्ञेयं किलकिञ्चितम् ॥ १० ॥

अत्र विभावा नवयौवनोद्भेदचाञ्चल्यादयः । अनुभावाः कर्तव्यानिर्धारणादयः । यथा–

कोदण्डमारोहति चण्डिमानं मधुव्रतः कांक्षति शोणिमानम् ।
पद्मं सुधां वर्षति वेपमानं स्वर्णाचलः स्विद्यति किं निदानम् ॥ ११ ॥

यथा वा–

यह है कि क्रीडाविधिका त्याग होत सन्ते आपके वस्त्रकी बुद्धिसे विष्णुके वस्त्रको पहर करिकै प्रातःकालमें पद्मशयनसे बाहर जाती हुई जो लक्ष्मी उससे वस्त्रको ग्रहण करनेके अर्थ उनके वस्त्रको तुमारा यह है इस प्रकार चपलता करते हुए और नेत्रसे कोपको दिखाते हुए और वचनसे कौतुक करते हुए जो स्मितसुधास्निग्ध अर्थात् हास्ययुक्तान्तःकरण कृष्ण सो हमारी रक्षा करो ॥ अब किलकिञ्चितका लक्षण कहते हैं "श्रमाऽभिलाष" इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि श्रम अर्थात् गात्रगौरवत्वादि और अभिलाष, गर्व, स्मित, हर्ष, भय, क्रोध इनका जो सांकर्य अर्थात् परस्पर सामानाधिकरण्य सो किलकिञ्चित है । इसमें प्रमाण कहतेहैं "तदाह" इत्यादिसे । कारिकार्थ यह है कि श्रम, अभिलाष, गर्व, स्मित, हर्ष, भय, क्रोध इनका जो वारंवार संकर सो पण्डितोंने किलकिञ्चित जानना । इसके विभाव-नवयौवनोद्भेद अर्थात् नव यौवनकी प्राप्ति और चञ्चलता इत्यादि हैं और अनुभाव–कर्तव्यका अनिश्चयादि हैं ।

अब इसका उदाहरण "कोदण्डम्" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं, श्लोकार्थ यह है कि कोदण्ड अर्थात् कोदण्डत्वसे अध्यवसित भ्रुकुटियुगल जो है सो चण्डिमा अर्थात् कुटिलताको धारण करताहै (यह कहनेसे गर्वाऽनुभावका कथन किया) और मधुव्रत अर्थात् तत्त्वसे अध्यवसित नेत्र जो है सो शोणिमा अर्थात् रक्तताको धारण करताहै (इससे क्रोधका अनुभाव दिखाया) और पद्म अर्थात्

क्रोधागारसमुत्थिताः समुदयत्संत्रासशैलार्दिताः
व्रीडाभिः परिमर्दिताः स्मितसुधाधाराभिरुद्वर्तिताः।
स्नाताः स्नेहरसैर्मनोभवकलामालाभिराभूषिताः
पायासुर्मयि शैलराजदुहितुः स्फीताः कटाक्षच्छटाः॥१२॥

वार्तावैमुख्ये सति निभृतभूयोदर्शनस्पृहा मोट्टायितम्। अत्र विभावाः सपत्नीत्रासलज्जादयः। अनुभावा मनःप्रेम-कथनसङ्केतनिवेदनादयः। यथा—

तत्त्वसे अध्यवसित सुख जो है सो अमृतका अर्थात् तत्त्वसे अध्यवसित प्रसादका वर्षण करताहै (इससे हासका अनुभाव दिखाया) पद्म कैसा है सो कहते हैं कि वेपमान अर्थात् कांपता हुआ (यह कहनेसे भयका अनुभाव दिखाया) और स्वर्णाचल अर्थात् तत्त्वसे अध्यवसित कुचमण्डल जो है सो स्वेदयुक्त होताहै (इससे हर्षाऽनुभाव कहा) इसमें क्या निदान अर्थात् क्या हेतु है यह नायि-काके प्रति नायककी उक्ति है सो जानना। यहां किलकिञ्चितके अनुभाव कहे हैं॥

अब कोई स्थलमें सम्पूर्णका सांकर्य भी किलकिञ्चित होताहै, यह कहनेके अर्थ मुख्य किलकिञ्चितकी विवक्षा करिके उदाहरणान्तर कहतेहैं "क्रोध" इत्यादि श्लोकसे। श्लोकार्थ यह है कि क्रोधके आगार अर्थात् तत्त्वसे अध्यवसित लोचनसे आये-हुये और सम्यक् प्रकार उदयको प्राप्त अर्थात् तत्कालमें आविर्भूत जो संत्रास अर्थात् भय वही हुआ पर्वत, उससे अर्दित अर्थात् बीचमें रोकेगये ऐसे, और व्रीडा अर्थात् व्रीडाव्यञ्जक हर्षसे परिमर्दित अर्थात् स्पर्श कियेगये ऐसे, और स्मित कहिये ईषत् हासरूप जो सुधा उसकी धारासे उद्वर्तित किये गये ऐसे, और स्नेह रस अर्थात् अभिलाष करिके स्नानको प्राप्त ऐसे, और मनोभवकलामाला अर्थात् कामोद्दीपनचतुररचनापरम्परासे जो गर्वातिशय उससे भूषित ऐसे, और स्फीत अर्थात् वृद्धिको प्राप्त ऐसे जो हिमालयसुता पार्वतीके श्रमभरसे कटाक्षच्छटा अर्थात् अपांगपात सो हमारी रक्षा करो। इसका अभिप्राय यह है कि विवाहो-त्तर महादेवके समीप पार्वतीको लानेवाली जो सखी उस सखीने पार्वतीके साथ परिहास किया, तब पार्वतीको क्रोध हुआ, पीछे भय हुआ, फिर लज्जा हुई अर्थात् हर्ष हुआ, फिर हास हुआ, फिर रमण हुआ, तत्कालिक ये कटाक्षच्छटा हैं सो जानना॥ अब मोट्टायितका लक्षण कहते हैं "वार्तावैमुख्य" इत्यादि वाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि वागादिव्यापारविषयकद्वेषवत्त्व होत सन्ते

न स्नेहस्य कथारसं कथमपि श्रोतुं समुत्कण्ठते
राधा किन्तु विकीर्णरत्नकपटादागत्य सौधाद्बहिः ।
नृत्यन्नेत्रपुटि स्फुरत्कुचघटि स्वेदोल्लसद्दोस्तटि
व्यावल्गद्भ्रुकुटि स्खलत्कटि पुनः कृष्णान्तिके भ्राम्यति॥ १२ ॥

सुखे दुःखचेष्टा कुट्टमितम् । अत्र विभावा रागोत्कटच्छदशन-करजक्षतकुन्तलाधरग्रहादयः । अनुभावाः कपटकायसङ्कोचकपटसीत्कारादयः । यथा-

रोद्धुं पाणिः प्रचलति चिरादङ्गुलिर्निश्चलाऽसौ
भ्रूविक्षेपो भवति कुटिलो नेत्रमन्तःप्रसन्नम् ।

निभृत अर्थात् औरसे अपरिचित जो वारंवार दर्शन अर्थात् दृग्व्यापार उसकी जो इच्छा सो मोट्टायित है । इसके विभाव-सपत्नीत्रास लज्जा आदि हैं । और अनुभाव-अन्तःकरणके प्रेमका कथन और संकेतनिवेदन इत्यादि हैं । इसका उदाहरण "न स्नेहस्य" इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं । श्लोकार्थ यह है कि राधा जो है सो प्रेमके आस्वादयुक्त जो कथा उसको कोई प्रकारसे भी सुननेकी इच्छा नहीं करती है (यह कहनेसे द्वेष सूचित किया) किन्तु विखरे हुए जो रत्न उनके छलसे कोठासे बाहर आकरिके नृत्ययुक्त है नेत्रपुटी जिस क्रियामें जैसे होय तैसे, और शोभायमान हैं कुचकलश जिस क्रियामें जैसे होय तैसे, और स्वेदयुक्त है बाहुसमीपभाग जिस क्रियामें जैसे होय तैसे और विशेष करिके चारों तरफ भ्रमण करती हैं भ्रुकुटी जिस क्रियामें जैसे होय तैसे, और मडती हुई है कटि जिस क्रियामें जैसे होय तैसे कृष्णके समीपमें भ्रमण करती है ।

अब कुट्टमितका लक्षण कहतेहैं "सुखे दुःख" इत्यादिवाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि सुखमें जो दुःखचेष्टा अर्थात् इस चेष्टासे नायकको दुःखावगम होवो ऐसी इच्छा सो कुट्टमित है । इसके विभाव-रागका उत्कर्ष और दन्तक्षत और नखक्षत और कुन्तल और अधर इनका ग्रहण इत्यादि हैं और अनुभाव कपटसे शरीरका संकोच और कपटसे सीत्कार इत्यादि हैं । इसका उदाहरण "रोद्धुम्" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि सुन्दरशरीरयुक्त नायिकाका हस्त जो है सो नीवीका निरोध करनेको विलम्बसे चलताहै और अंगुली जो है सो निश्चल है अर्थात् स्वामिकर्तृक नीविमोचनप्रतिबन्धक जो चेष्टा उससे रहित है और भ्रुकुटीका जो

गाढाश्लेषे भवति सुतनोरर्धमात्रो नकारः
कम्पो मूर्ध्नः प्रसरति मुखं सम्मुखं न प्रयाति ॥ १४ ॥

गर्वाभिमानसम्भूतो विकारोऽनादरात्मा विव्वोकः । अत्र विभावा यौवनमदधनमदकुलमदप्रियाऽपराधादयः । अनुभावा अवहित्थदुर्वचनदुष्प्रेक्षणादयः । यथा–

कृताञ्जलिः कातरदृङ्निपातः प्राणेश्वरः पार्श्वमुपाजगाम ।
सखीमुखे कुण्डलरत्नरेखामेषा पुनः प्रेक्षितुमाचकाङ्क्ष ॥ १५ ॥

सकलाङ्गसमीचीनविन्यासो ललितम् । अत्रैव स्मितादयोऽन्तर्भवन्ति । तत्र विभावा मनःप्रसादप्रियतमदृढाऽनुरागधीरत्वादयः । अनुभावाः प्रियवशीकरणलोकाऽनुरागचमत्कारादयः । यथा–

विक्षेप सो कुटिल है अर्थात् क्रोधसूचकतासे वक्र है और भितर नेत्र प्रसन्न हैं। और गाढ आलिंगन होत सन्तें अर्धमात्र नकार होताहै, और मस्तकका कंप होताहै, और मुख जो है सो प्रियके सन्मुख नहीं जाताहै । अब विव्वोकका लक्षण कहतेहैं "गर्व" इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि गर्व और अभिमान इनसे उत्पन्न जो अनादर अर्थात् तिरस्काररूप विकार सो विव्वोक है । इसके विभाव यौवनमद, धनमद, कुलमद, प्रियका अपराध इत्यादि हैं और अनुभाव अवहित्य, दुर्वचन, दुष्प्रेक्षण इत्यादि हैं। इसका उदाहरण "कृताञ्जलिः" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि कातर अर्थात् भयचकित है दृष्टिपात जिसका ऐसा और जो प्राणेश्वर सो जोडे है हात जिसने ऐसा होतसन्तें उसके पृष्ठतः समीप आता भया और यह नायिका ताटंकरचित वैदूर्यादिकान्तियुक्त जो कुण्डल उनकी रत्नरेखा सखीमुखमें स्थित उसको देखनेको पुनः आकांक्षा करती भई।

अब ललितका लक्षण "सकलाङ्ग" इत्यादि वाक्यसे कहते हैं । वाक्यार्थ यह है कि सम्पूर्ण अंगोंका समीचीनतासे जो विन्यास अर्थात् प्रसाधन सो ललित है । श्लोक–"धन्यासि या कथयसि प्रियसङ्गमेऽपि विश्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु । नीवीम्प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण सख्यः शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि ॥" रसकथापरा जो सखियां उनके मध्यमें रतिकालिक स्वप्रियालापकी कहनेवाली जो कोई सखी उस सखीका प्रहास करनेवाली जो कोई सखी उसकी यह उक्ति है । इसमें

कलक्वणितमेखलं चपलचारुनेत्राञ्चलं
प्रसन्नमुखमण्डलं श्रवणसञ्चरत्कुण्डलम् ।
स्फुरत्पुलकबन्धुरं लपितशोभमानाधरं
विहस्य रतिमन्दिरे व्रजति कस्य शातोदरी ॥ १६ ॥

प्रियसन्निधावभिलाषापरिपूर्तिर्विहृतम् । तत्र व्याजलज्जादयो विभावाः । अनुभावा अन्यथाचेष्टिताऽन्यथाव्यवहारादयः । व्याजाद्यथा-

अभिलषति कपोले चन्द्रचूडे विधातुं तिलकमुदयदन्तःकोपभाजा भवान्या । फणिपतिभयकूटादंगमुत्कम्पयन्त्या प्रचलवसनया तैर्विघ्निताः केलिदीपाः ॥ १७ ॥

धन्याऽसि यह जो कहा यह कहनेसे व्यञ्जित जो परोपहासरूप स्मित उसको हावोंमें अधिक कहना चाहिये यह शंका कोई करता है, सो युक्त नहीं क्योंकि यह जो उपहासरूप स्मित है सो ललितमें अन्तर्भूत है । इस ललितके विभाव-मनकी प्रसन्नता, प्रियतमका दृढ अनुराग और धीरता इत्यादि हैं । अनुभाव-प्रियवशीकरण, लोकानुराग, चमत्कार इत्यादि हैं । इसका उदाहरण "कलक्वणित" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि कृशोदरी जो नायिका सो हँस करिके कोई महामहिमाशाली पुण्ययुक्त पुरुषके क्रीडागृहमें मधुर ध्वनियुक्त है मेखला जिस क्रियामें जैसे होय तैसे, और चञ्चल अतएव रमणीय है नेत्रपक्ष्म जिस क्रियामें जैसे होय तैसे, और आन्तरसुखानुभावभूतप्रसादसहित है मण्डलाकार मुख जिस क्रियामें जैसे होय तैसे, और दोनों कानोंमें चलते हुए हैं कुण्डल जिस क्रियामें जैसे होय तैसे, और प्रकाशमान जो पुलकादि परम सूक्ष्म विकार सो है जिसमें ऐसे बन्धुर अर्थात् नीचा ऊँचा नाभिस्तनप्रधान अवयवचक्र है जिस क्रियामें जैसे होय तैसे, और भाषणसे शोभित है अधर जिस क्रियामें जैसे होय तैसे जाती है ।

अब विहृतका लक्षण कहते हैं "प्रियसन्निधौ" इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि प्रियके समीपमें भी इच्छाकी अपूर्ति अर्थात् विषयसंस्पर्श सो विहृत है । अभिलाष फलसम्पादकसामग्रीकालमें आपके प्रयत्नसे मिलाहुआ जो उस सामग्रीका विघटन सो विहृत है, यह फलितार्थ जानना । इसके विभाव-व्याज, लज्जा इत्यादि । अनुभाव-अन्यथाचेष्टा, अन्यथा व्यवहारादिक हैं । व्याजसे विहृतका उदाहरण "अभिलषति" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है

लज्जातो यथा—

आनन्दभाजो यदुनन्दनस्य कराऽवरोधं न करेण कुर्याः।
सखीं लपन्तीमिति सञ्जघान चकोरनेत्रा चुलकोदकेन॥ १८॥

यूनोरन्योन्यं मुदितानां पञ्चेन्द्रियाणां सम्बन्धाभावोऽभीष्टाप्राप्तिर्वा विप्रलम्भः। न च मानात्मके विप्रलम्भेऽव्याप्तिरिति वाच्यम्, मुदितपञ्चेन्द्रियसम्बन्धाभावरूपस्य विशिष्टाभावस्य तत्राऽपि सत्त्वात्। तदानीं यूनोरिन्द्रियाणां मुदितत्वाभावात्। ननु या प्रियमभिसरति सा विप्रयुक्ता भवेदिति चेत्। सत्यम्, सा विप्रयुक्तैव। अचिरदर्शनप्रत्याशाऽनुवृत्तप्रमोदेन विरहधर्मस्याश्रुपातादेरसम्भव इति।

कि चन्द्रचूड जो शिव सो भवानीके कपोलस्थलमें तिलक अर्थात् पत्ररचनाको करनेकी इच्छा करत सन्ते उदयको प्राप्त जो अन्तःकरणका कोप उससे युक्त पार्वतीने शेषके भयके छलसे अंगको कँपातीहुईने चञ्चल जो वस्त्र उनकी पवनसे क्रीडादीप जो हैं ते विप्रयुक्त करदिये अर्थात् क्रीडादीपोंको बुझादिया।

अब लज्जासे विहृतका उदाहरण "आनन्दभाजः" इत्यादिश्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि चकोरनेत्रा अर्थात् कोपसे रक्त हैं नेत्र जिसके ऐसी नायिका जो है सो सखीको चुलकोदक अर्थात् मुखप्रम्मार्जनार्थ प्राप्त जलसे मारती भई, कैसी है वह सखी सो कहते हैं कि आनन्दयुक्त अर्थात् उत्कण्ठित जो कृष्ण उसके हाथका अवरोध अर्थात् कंचुकीको मोचनमें प्रवृत्त जो पाणि उसका प्रतिबन्ध आपके हाथसे मत करो इस प्रकारसे शिक्षा करती हुई ऐसी। इस प्रकार सपरिकर सम्भोग शृंगारका निरूपण करिकै अब विप्रलम्भका लक्षण कहते हैं "यूनोरन्योन्यम्" इत्यादि वाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि युवति और युवा इनकी जो परस्पर मुदित पांच इन्द्रियां उनका जो परस्पर सम्बन्धाभाव सो विप्रलम्भ है। यहां मुदितपद न दें तो करुणरसमें अतिव्याप्ति होजायगी, क्योंकि वहां भी युवति युवा दोनोंका परस्पर पञ्चेन्द्रियसम्बन्धाभाव है। इस हेतु मुदितपद दिया तो अतिव्याप्ति नहीं हुई क्योंकि करुणस्थलमें इन्द्रियोंको मोद नहीं है। इन्द्रियोंकी जो मुदितता सो ही विप्रलम्भ है ऐसा कहें तो संयोगशृंगारमें अतिव्याप्ति हो-

स च विप्रलम्भः पञ्चधा, देशान्तरगमनाद्गुरुनिदेशादभिलाषादीर्ष्यायाः शापाच्चेति । समयादैवाद्विड्वरादित्यादयोऽप्युन्नेयाः । देशान्तरगमनाद्यथा-

---

जायगी, वहां भी इन्द्रियोंको मुदितता है इस हेतु संबन्धाभाव कहा तो अतिव्याप्ति नहीं हुई क्योंकि वहां संबन्धका अभाव नहीं है। यहां पञ्च पद दिया सो रतिका परिपोषाभिप्रायक है सो जानना । फलित यह है कि वियोगकालावच्छिन्ना जो परिपूर्णा रति सो विप्रलंभ है सो जानना । जहां रतिका परिपोष नहीं होताहै वहां शृंगारका सामान्य लक्षण ही नहीं रहेगा तो विप्रलंभ भी नहीं रहैगा सो जानना । यहां यह शंका होती है कि दोषदुष्टइन्द्रियसंबन्धकालमें भी परस्पर साक्षात्कारका अभाव होनेसे विप्रलंभका योग सर्वमतसिद्ध है परन्तु पञ्चेंद्रियसंबंधाभाव वहां नहीं है, वहां विप्रलंभकी सिद्धिके अर्थ कलोपहितत्व विशेषणसंबंधमें अवश्य देना होगा, जब फलोपहित पञ्चेन्द्रियसंबंध यहां नहीं है तो उसका अभाव है तो विप्रलंभशृंगार बनजायगा तो ऐसा लक्षण विप्रलंभका करना इसमें गौरव होताहै, इसकी अपेक्षा स्वविषयसिद्धयनुपहित जो परिपूर्ण रति सो ही विप्रलंभ कहना चाहिये । इसका समाधान यह है कि इस ही अभिप्रायसे दूसरा लक्षण कहतेहैं कि अभीष्ट जो अर्थ अर्थात् इच्छाविषय जो अर्थ उसकी प्राप्ति नहीं होय और रति पूर्ण रहै उसको विप्रलंभ कहना । अब प्रथम लक्षणमें जो मुदित पद न दें तो मानरूप विप्रलंभमें अव्याप्ति होगी क्योंकि वहां पञ्चेन्द्रियसंबंधाभाव नहीं है । इससे मुदित पद दिया तो प्रकृतमें पञ्चेन्द्रियसंबंध है तो भी मुदितत्वविशिष्टपञ्चेन्द्रियसंबंध नहीं है क्योंकि मानकालमें युवति युवाओंकी इन्द्रिय मुदित नहीं रहती हैं इस हेतु मुदितत्वविशिष्टपञ्चेन्द्रियसंबंधाभाव नहीं रहा तो अव्याप्ति नहीं हुई । अब यहां यह शंका हुई कि जो नायिका प्रियके प्रति अभिसरण करतीहै अर्थात् जातीहै वह विप्रलंभयुक्ता नहीं कहावैगी, क्योंकि विप्रलंभका कार्य अश्रुपातादि वहां नहीं है । इसका समाधान यह है कि वह तो विप्रलंभयुक्त ही है परन्तु शीघ्र जो प्रियदर्शनप्रत्याशा उसके संबंधसे जो प्रमोद उससे विरहका कार्य अश्रुपातादि वहां नहीं हो सकता है सो जानना ।

विप्रलम्भशृंगारमें यद्यपि विशेष उपलम्भ नहीं है तो भी इसका विभाग करते हैं "स च" इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि वह विप्रलम्भशृंगार पांच प्रकारका है । एक तो देशान्तरगमनसे, दूसरा गुरुजनाज्ञासे, तीसरा अभिलाषसे, चौथा ईर्ष्यासे, पांचवां शापसे । विशेषाऽनुपलम्भ है तो भी कारण वैचित्र्यमात्रसे भिन्नभेद

प्रस्थानाय कृतोद्यमे प्रियतमे दोःकंकणेन च्युतं
धैर्येण स्खलितं मदेन गलितं नेत्राम्भसा निःसृतम्।
जीवेनाऽपि यियासुना शिवशिव प्रारम्भि वामभ्रुवः
कम्पान्दोलितकिङ्किणीकलरवव्याजेन वैण्यस्मृतिः ॥१९॥

यथा वा तातचरणानाम्-

वीणामंके कथमपि सखीप्रार्थनाभिर्निधाय
स्वैरंस्वैरं सरसिजदृशा गातुमारब्धमेव।
तन्त्रीबुद्ध्या किमपि विरहक्षीणदीनाङ्गवल्ली-
मेनामेषा स्पृशति बहुशो मूर्छना चित्रमेतत् ॥ २० ॥

गुरुनिदेशाद्यथा-

होतसन्तें और भी बहुत भेद हो सकतेहैं। समयहेतुक विप्रलम्भ, दैवहेतुक विप्रलम्भ, विद्रावादिहेतुक विप्रलम्भ, ये भी विप्रलम्भके भेद जानने चाहिये। देशान्तरगमन आपही विप्रलम्भका हेतु नहीं होताहै किन्तु उसका ज्ञान विप्रलम्भका हेतु होताहै, ऐसा हुआ तो देशान्तरगमन नहीं भी होय और ज्ञान होजाय तो तद्धेतुक विप्रलम्भ भी हो सकताहै। इसका उदाहरण "प्रस्थानाय" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं, श्लोकार्थ यह है कि नायक जो है सो प्रस्थान करनेके अर्थ आरब्धोद्योग होतसन्तें नायिकाका हस्तकंकण गिरपडा (यद्यपि कंकण करभूषणका नाम है तो 'दोः' पद निरर्थक है तथापि जहां पृथक् विशेषणवाचक पद रहै तहाँ विशिष्टवाचक पद विशेष्यमात्रको कहतहैं। यह काव्यवेत्ताओंका संकेत है इस हेतु यहां कंकणपद भूषणमात्रपर है 'दोः' कंकणका प्रयोग करनेसे हस्तकंकणका ज्ञान होगा सो जानना और धैर्यकी शीघ्र निवृत्ति होनेसे वह पड़गया और मद भी नष्ट होगया। और नेत्रसे जल बाहर होगया। रहनेके स्थानमें उपद्रवोंका कार्यके जानेकी इच्छा करते हुए जीवने भी कम्पसे आन्दोलित अर्थात् चलित जो किंकिणी अर्थात् काञ्ची उसकी जो मधुरध्वनि इसके छलसे वैण्य अर्थात् वेणुपुत्र पृथुराजाका स्मरण कष्टप्राप्त होकरिकै आरम्भ किया अर्थात् समूहके दाक्षिण्यसे जानेके निमित्त आवश्यकता भी हुई तो भी पुनः आगमनेच्छासे ऐसे मंगलका आचरण किया। वैण्यका स्मरण प्रस्थानसमयमें मंगलरूप है यह शास्त्रमें कहा है।

स्वरूपसे देशान्तरगमनहेतुक विप्रलम्भका भी उदाहरण दिखाते हैं "वीणामंके" इत्यादि श्लोकसे। श्लोकार्थ यह है कि कमलतुल्य हैं नेत्र जिसके ऐसी नायिकाने अर्थात् जलसे भरे हैं नेत्र जिसके ऐसी नायिकाने प्रिय सखीकी प्रार्थनासे कोई प्रकार अर्थात् बलात्कारसे वीणाको गोदमें रख कर यथेष्ट गानके निमित्त प्रारम्भ किया

भास्वाँश्चूततरुर्गुरुर्मनसिजः कोप्येष भृंगस्तमो
मन्दो गन्धवहः सितो मलयजो दोषाकरो माधवः ।
अंगारो नवपल्लवः परभृतो विज्ञो गुरोराज्ञया
निर्यान्तोऽसि विचारिताः कथममी क्रूरास्त्वया न ग्रहाः २१॥

अभिलाषाद्यथा–

आगाराभिमुखं मुखं रचयतोर्वक्रीकृतग्रीवयो–
र्व्यस्तं चोलमजानतोः क्वचिदपि व्याजात्पुनस्तिष्ठतोः ।
मार्गे विस्मरतोः क्वचित्क्वचिदपि त्यक्ताक्षरं जल्पतोः
साचि प्रेक्षितमावयोर्यदभवद्भूयस्तदाशास्महे ॥ २२ ॥

ही यह तो ठीक ही है परन्तु मूर्छना अर्थात् मूर्छा जो है सो अत्यन्त विरहसे क्षयको प्राप्त इस ही हेतु दीन, ऐसी है अंगलता जिसकी ऐसी इसहीको वीणाके भ्रमसे बहुत वार विप्रलम्भके उद्दीपनसे स्पर्श करती है, यह आश्चर्य है। अभिप्राय यह है कि शब्दका धर्म जो मूर्छना उसकी अभिव्यक्ति वीणामेंही उचित है, शरीरमें उचितनहीं सो जानना। अब गुरुनिदेशहेतुक विप्रलम्भका उदाहरण कहतेहैं ''भास्वान्'' इत्यादि श्लोकसे । श्लोकार्थ यह है कि नायिकाकी उक्ति है कि हे नाथ ! गुरुओंकी आज्ञासे तुम गये हो परन्तु ये जो दुष्ट ग्रह अर्थात् दुष्ट ग्रहका कार्य करनेवाले उनका विचार तुमने क्यों नहीं किया ? अर्थात् ये कौन अनर्थका उत्पादन करेंगे इसका प्रश्न ज्योतिषीसे क्यों नहीं किया ? ये ग्रह कौन ? सो कहतेहैं कि चूततरु अर्थात् आम्र जो है सो भास्वान् है अर्थात् नवपल्लवोंसे प्रकाशित है और सूर्यरूप है। और कामदेव जो है सो गुरु है अर्थात् महान् है, और बृहस्पतिरूप है । और अनिर्वचनीय है प्रभाव जिसका ऐसा जो यह भृंग सो अन्धताका सम्पादक होनेसे अन्धकार है और राहुरूप है । और गन्धका वहन करनेवाला जो पवन सो मन्द है अर्थात् कामोद्दीपक है, और शनिरूप है । और चन्दन जो है सो सित अर्थात् जातिसे शुद्ध है, और शुक्ररूप है । और वसन्त जो है सो दोष अर्थात् परपीडनादि दोषोंका स्थान है, और चन्द्ररूप है । और नवीन जो पल्लव सो अंगाररूप है अर्थात् दाह करनेवाला है और मंगलरूप है । और परभृत अर्थात् कोकिल जो है सो विज्ञ अर्थात् विशेषाभिज्ञ है (यह कहनेका अभिप्राय यह है कि स्वरूपसे कुहू यह जो इसका शब्द है सो विरहिजनसन्तापकारक जो चन्द्रमा उसका अवसानपर्यवसायी है इस हेतु अभिलषित अमावास्यादि रूप अर्थके प्रतिपादनमुखसे इष्टचिन्तवनका आपमें प्रख्यापन करनेसे विज्ञ है) और बुधरूप है । अब अभिलाष हेतुक विप्रलंभका उदाहरण ''आगारम्'' इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं । श्लोकार्थ यह है कि कहीं ही अर्थात् देवगृहादिमेंही प्रवृत्त हुआ है नेत्रराग जिनको और संमर्दसे

ईर्ष्यातो यथा–

प्राणेशस्य प्रभवति मनः प्रेम हेमप्रसून–
श्चेतश्चूतं दृगपि कमलं जीवनं बन्धुजीवम्।
आशासूत्रे ग्रथितमखिलं वेधसा तस्य भंगे
स्यादेतेषामपि निपतनं चण्डिमानं विमुञ्च॥ २३॥

शापाद्यथा– अन्यत्र यदि निर्गन्तुमिच्छा निर्गच्छ दूरतः।
प्रियाविरहतापेन शापदग्धो भविष्यसि॥ २४॥

शीघ्रही विश्लिष्ट, और द्वारभेदसे बाहर निकले और परस्परमार्गावलोकनमें आसक्त ऐसे नायक नायिकाओंका मनोरथ वर्णन यह है कि अग्रिम देशमें गमनाशंकासे आगे जाते भी हैं तो भी बीचमें देवतायतनमें ही उत्पन्न जो सम्भावना उससे देवगृहके अभिमुख मुखको करतेहुए, और इस ही हेतु वक्र की है ग्रीवा जिनने ऐसे, और इसही हेतु गिरताहुआ जो अंगावरण वस्त्र उसको नहीं जानते हुए ऐसे, और अस्थानमें भी छलसे स्थित ऐसे और जानेके मार्गका विस्मरण करते हुए ऐसे, और जिस किसी विषयमें लुप्त है वर्ण जिसमें जैसे होय तैसे बोलते हुए ऐसे जो हम और तुम उनका जो तिर्यक्प्रेक्षण अर्थात् मार्गमें दैवसंघटित ऐसा जो प्रेमभरपूरित चक्षुसे निरन्तर परस्पर झाँकना होता भया, उसको फिर भी हम इच्छा करतेहैं॥ अब ईर्ष्याहेतुक विप्रलम्भका उदाहरण "प्राणेशस्य" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि दूतीकी उक्ति है कि हे चण्डि! अर्थात् अत्यन्तकोपयुक्ते! मान अर्थात् आग्रहको छोड क्योंकि ब्रह्माने इन सबको आशारूप सूत्रमें गूथे हैं अर्थात् आशासे इनकी सत्ता है, सो ही कहते हैं कि आशासूत्रका भंग होनेसे इन सबका निपात होजायगा। ये सब कौन सो कहते हैं कि प्राणेश अर्थात् अत्यन्त प्रेमालम्बन प्रियका जो मनःप्रेम अर्थात् अन्तःकरणका स्नेह सो अत्यन्त रक्षा करनेके योग्य होनेसे स्वर्णपुष्परूप है, और अन्तःकरण जो है सो प्रियागन्धि जो अनेकविध मनोरथ तद्युक्त होनेसे आम्रपुष्परूप है। और नेत्र जो है सो भी जलपूरनिमग्न होनेसे कमलरूप है, और जीवन जो है सो अस्थिरप्रसादता होनेसे बन्धुजीव अर्थात् मध्याह्नपुष्परूप है॥

अब शापहेतुक विप्रलम्भका उदाहरण "अन्यत्र" इत्यादिश्लोकसे कहतेहैं। श्लोकार्थ यह है कि दूतीकी नायकके प्रति उक्ति है कि निर्गमन अर्थात् जीवनके निमित्त जो बाहर जानेकी इच्छा है तो नायिकाको बिना देखे ही उलट जावो, और यदि प्रियाके प्रति अभिसरण करोगे तो प्रियाका जो विरह अर्थात् तुमारा विश्लेष उससे उत्पन्न जो ज्वाला सो हमारे प्रतापनमात्रमें क्षम भी है तो भी तुम्हारे मुखावलोकनरूप इन्धनसे प्रवृद्ध होकरिके तुम्हारा दाह करनेमें समर्थ होजायगी।

समयाद्यथा- विश्लेषजीवनक्रीडापीडाविधुरमानसा ।
तस्थौ प्रातः प्रियं प्रेक्ष्य चक्री वक्रीकृताननाः ॥ २५ ॥
दैवाद्यथा- जीवने सति विश्लेषो विश्लेषे सति जीवनम् ।
द्वयोरप्यनयोर्यूनामहमेव निदर्शनम् ॥ २६ ॥
विड्वराद्यथा- केलीगृहे वा मणिमन्दिरे वा शशाम लंकानगरे हुताशः।
इतस्ततः प्रस्थितयोर्न यूनोर्वियोगजन्मा विरराम वह्निः॥ २७ ॥
इति श्रीभानु० रसतरंगिण्यां शृंगाररसनिरूपणं नाम षष्ठस्तरंगः ॥ ६ ॥

तुम शापकी तरह भस्मसात् हो जाओगे अर्थात् प्रियाके सम्भोगमें तुम आपके आत्मामें दग्धत्वकी सम्भावना करोगे, जिस प्रकार महापुरुषके शापसे भस्मीभूत आत्माकी सम्भावना करते हैं उसही प्रकार हम भी प्रियाकी निकटतामात्रसे शाप है मूल जिसमें ऐसा जो तुम्हारा विरहानल उससे भस्मीभूत तुम्हारे आत्माकी संभावना मैं करती हूँ । यह कहनेसे शापहेतुक विप्रलंभका उदाहरण यह नहीं बन सकताहै, यह कहनेवाले परास्त होगये । वे इस श्लोककी ऐसी व्याख्या करते हैं कि यह जो श्लोक है सो गमनमें प्रतिबन्धकताको सूचन करताहै, यह वियोग शापमूलक नहीं है किन्तु मेघदूत काव्यमें 'त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायामात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् । अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ।' इस श्लोकमें शापहेतुक विप्रलंभ है सो जानना ॥ अब समयहेतुक विप्रलंभका उदाहरण "विश्लेष" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं, श्लोकार्थ यह है कि विश्लेष होनेपर जीवनसंभूत जो क्रीडा उससे उत्पन्न जो दुःख उससे अधीर है मन जिसका ऐसी जो नायिका सो प्रातःकालमें प्रियको देखकरिके चक्रवाकीकी तरह अवक्र वक्र किया है मुख जिसने ऐसी स्थित होती भई, प्रातःकालमें प्रियवियोग सर्वत्र प्रसिद्ध है ।

अब दैवहेतुक विप्रलंभका उदाहरण "जीवने सति" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं, श्लोकार्थ यह है कि सीताके वियोगमें रामचन्द्रकी उक्ति है कि जीवन होत सन्तैं जो विश्लेष और विश्लेष होत सन्तै जो जीवन भी इन दोनोंका युवा पुरुषोंमें मैं ही उदाहरण हूं अर्थात् और नहीं है ॥ अब उपद्रवहेतुक विप्रलंभका उदाहरण "केलीगृहे" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि लंकानगरमें क्रीडागृहमें अथवा गृहैकदेशमें मणिमन्दिरमें वा गृहके संपूर्ण भागमें प्रवृद्ध किया जो अग्नि सो कितनेही कालमें शान्त होगया परन्तु यथानिर्गम भागे हुए जो युवति युवा उनका जो विरहोद्दीपित अग्नि सो शान्त नहीं हुआ, अभिप्राय यह है कि भयके अतिपातसे बहुत कालपर्यन्त दोनोंका संयोग नहीं हुआ । यहां उपद्रवहेतुक विप्रलंभ है ॥

इति श्रीरसतरङ्गिणीभाषाटीकायां शृङ्गाररसनिरूपणं नाम षष्ठस्तरङ्गः ॥ ६ ॥

सप्तमस्तरंगः ७.

हासस्य परिपोषो हास्यः। वर्णोऽस्य शुद्धो दैवतं प्रमथः। स च द्विविधः—स्वनिष्ठः परनिष्ठश्चेति। तावप्युत्तममध्यमाधमभेदात्त्रिधेति षड्विधः। स्वनिष्ठोऽपि षड्विधः। परनिष्ठोऽपि षड्विध इति द्वादशविधो हास्यः। तथाहि उत्तमानां स्वनिष्ठे परनिष्ठे च स्मितहसिते। मध्यमानां स्वनिष्ठे परनिष्ठे च विहसितोपहसिते। अधमानां स्वनिष्ठे परनिष्ठे चापहसितातिहसिते।

अब हास्य रसका लक्षण और वर्ण और देवता "हासस्य" इत्यादि वाक्यसे कहते हैं। वाक्यार्थ यह है कि हास्यरूप स्थायिभावका जो परिपोष अर्थात् पुष्टता सो हास्य है। इसका वर्ण शुद्ध अर्थात् शुक्ल है और देवता प्रमथ है। वह हास्य रस दो प्रकारका है। एक स्वनिष्ठ, दूसरा परनिष्ठ। तहां हास्यरसका जो आश्रय उससे जो अन्य सो जहां आलम्बन विभाव होय तहां हास्य स्वनिष्ठ कहाताहै। जहां हास्य रसका आश्रय आलम्बन विभाव होय तहां हास्य परनिष्ठ कहाताहै। यह जो दोनों प्रकारके हास्य हैं सो उत्तम, मध्यम, अधम इन भेदोंसे तीन तीन प्रकारके हैं इस हेतु छः प्रकारके हुये। अभिप्राय यह है कि एक उत्तमका हास्य, मध्यमका हास्य, अधमका हास्य इस तरह हास्य तीन प्रकारका है। उत्तमका जो हास्य सो स्वनिष्ठ परनिष्ठ दो प्रकारका है। और मध्यमका जो हास्य है सो भी स्वनिष्ठ परनिष्ठ दो प्रकारका है। और अधमका जो हास्य है सो भी स्वनिष्ठ परनिष्ठ दो प्रकारका है। इस तरह छै प्रकार हुए। तहां उत्तमका जो स्वनिष्ठ हास सो दो प्रकारका है स्मित और हसित। इन भेदोंसे इसही तरह परनिष्ठ भी स्मित रूप और हसितरूप है इससे उत्तमका हास चार प्रकारका हुआ। इसही तरह मध्यमका जो स्वनिष्ठ और परनिष्ठ हास्य सो विहसित उपहसित इन भेदोंसे दो दो प्रकारका है। तो मध्यमका हास्य भी चार प्रकारका होगया। इसही प्रकार अधमका भी स्वनिष्ठ, परनिष्ठ हास्य अपहसित, अतिहसित इन भेदोंसे दो दो प्रकारका है। तो अधमका हास्य भी चार प्रकारक होगया, तो स्वनिष्ठ हास्य छै प्रकारका परनिष्ठ हास्य छै प्रकारका इस तरह हास्यके बारह भेद होगये।

उत्तमानामीषद्विकसितकपोलमव्यक्तदशनमपाङ्गसुष्ठुवीक्षणं स्मितम् । उत्फुल्लकपोलं किञ्चिल्लक्षितदशनं हसितम् । मध्यमानां समयोचितमुत्तमरचनमाकुञ्चितमुखमाविर्भूतवदनरागं विहसितम् । उत्फुल्लनासापुटं कुटिलवीक्षितं कुञ्चितग्रीवं स्फुटस्वनमुपहसितम् । अधमानामुद्धतमुद्यदश्रु कम्पितमौलि स्फुटतरस्वनमपहसितम् । अत्युद्धतं बहलाश्रु स्फुटतमस्वनमाश्लिष्टपार्श्वजनमारब्धकरतालमतिहसितम् ।

स्वनिष्ठं स्मितं यथा-

अब उत्तमका जो स्वनिष्ठ और परनिष्ठ हास्य है सो स्मित हसितरूप कहाताहै उनके क्रमसे लक्षण "उत्तमानाम्" इत्यादि वाक्यसे कहते हैं । वाक्यार्थ यह है कि किञ्चित् विकसित कपोल होय जिस हास्यमें और नहीं प्रकट हैं दशन जिसमें और नेत्रप्रान्तसे सुन्दर वीक्षण होय जिसमें ऐसा जो उत्तमका स्वनिष्ठ परनिष्ठ हास्य उसको स्मित कहते हैं । और जिस हास्यमें फूले हुए कपोल होवैं और दन्त किञ्चित् लक्षित होजायं ऐसा जो उत्तमका स्वनिष्ठ परनिष्ठ हास्य उसको हसित कहते हैं । इसही प्रकार मध्यमका जो स्वनिष्ठ परनिष्ठ हास्य सो भी विहसितोपहसितरूप कहा है, उनका भी लक्षण क्रमसे "मध्यमानाम्" इत्यादि वाक्यसे कहते हैं । वाक्यार्थ यह है कि समयसे उचित और उत्तम शब्द होय जिसमें और संकुचित मुख होय और प्रकट वदनराग होय जिसमें ऐसा जो मध्यमका स्वनिष्ठ परनिष्ठ हास्य सो विहसित है । और इसही प्रकार उत्फुल्ल हैं नासापुट जिसमें और कुटिल वीक्षित है जिसमें और संकुचित है ग्रीवा जिसमें, स्फुट है शब्द जिसमें ऐसा जो मध्यमका स्वनिष्ठ परनिष्ठ हास्य वह उपहसित है । अब अधमका जो स्वनिष्ठ परनिष्ठ हास्य अपहसित अतिहसितरूप कहाहै उनका लक्षण "अधमानाम्" इत्यादि वाक्यसे कहते हैं । वाक्यार्थ यह है कि जिस हासमें उद्धत और बाहर निकलते हुए अश्रु होवैं और कम्पितमस्तक होय, और अतिस्फुट शब्द होय ऐसा जो अधमका स्वनिष्ठ परनिष्ठ हास्य सो अपहसित है । इस ही प्रकार जिस हासमें और अत्यन्त उद्धत बहुत अश्रु होय और अत्यन्त स्फुट शब्द होय और आश्लिष्ट समीप जन जिसमें, और आरब्ध है करताल जिसमें ऐसा जो अधमका स्वनिष्ठ परनिष्ठ हास्य वह अतिहसित है ॥

लेखनीमितइतो विलोकयन्कुत्रकुत्र न जगाम पद्मभूः।
तां पुनः श्रवणसीम्नि योजितां प्राप्य सन्नतमुखः स्मितं दधौ१॥
स्वनिष्ठं हसितं यथा-
व्योमांकुरं व्योमगतं रदाग्रमुग्रद्युतिं स्वीयमुदीक्ष्य विष्णोः।
यदा स हास्यं किमु तत्पयोधावद्याऽपि फेनस्तबकायमानम्२
परनिष्ठं स्मितं हसितं यथा-
हरवृषभमुखे सखेलमायोजयति सुवर्णसवर्णकान्तिपर्णम्।
दृशि भुजगपतेः शिशुः षडास्यः कलयति कज्जलमन्तिके भवान्याः॥ ३॥
विहसितं परनिष्ठं यथा-

अब स्वनिष्ठ स्मितका उदाहरण "लेखनीम्" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि ब्रह्मा जो है सो लेखनीको इधर उधर देखता हुआ कहां कहां नहीं गया अर्थात् क्या क्या नहीं देखता भया? और पीछे कानके निकटमें लगाई उस लेखनीको प्राप्त होकरिके नम्र है मुख जिसका ऐसा होतसन्ते स्मितको धारण करताहुआ। यहां वह लेखनी ब्रह्मनिष्ठ हास्यका आलम्बन है। यह लेखनी हास्याश्रय नहीं है इससे यहां स्वनिष्ठ स्मित बनगया। अब स्वनिष्ठ हसितका उदाहरण "व्योमांकुरम्" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि आपका आकाशमें प्राप्त अर्थात् पृथीवीके उद्धारसमयमें पृथिवीका भेदनकरिके आकाशमें देखा ऐसा जो रदाग्र अर्थात् दन्तका अग्रभाग उसको व्योमांकुरकी सम्भावना करिके जो विष्णुको उग्रद्युति हास्य हुआ सो समुद्रमें आज भी फेनस्तबकायमान अर्थात् पुञ्जीभूत फेनतासे दृश्यमान है क्या?॥ अब एक उक्तिसे ही परनिष्ठ जो स्मित और हसित उनका उदाहरण कहते हैं "हरवृषभ" इत्यादि श्लोकसे। श्लोकार्थ यह है कि छह हैं मुख जिनके ऐसे जो बालरूप स्वामिकार्तिक सो नन्दीके मुखमें सुवर्णकी समान कान्तियुक्त जो पत्र उसको भवानीके समीप कौतुकसहित जैसे होय तैसे प्राप्त करते हैं, और शेषकी दृष्टिमें कौतुकसहित कज्जल लगाते हैं। यहां पत्रिकाव्यापारसे हसते हुए स्वामिकार्तिकको देखकरिके पार्वतीको स्मित हुआ और अञ्जनव्यापारसे हँसते हुए स्वामिकार्तिकको देखकरिके पार्वतीको हास्यका आविर्भाव हुआ, इससे उदाहरण संगत होगया।

अब परनिष्ठ उदाहरण कहनेसे स्वनिष्ठ भी कथित होजाताहै, जहां आश्रय और आलम्बन एक रहै तहां परनिष्ठ होताहै इस अभिप्रायसे परनिष्ठ विहसि-

निशासु तैलस्य धिया गृहीतैर्मसीजलैर्लिप्तमुखारविन्दम् ।
गोपं प्रभाते स्खलदश्रुनीरमधीरनादं जहसुस्तरुण्यः ॥ ४ ॥

उपहसितं परनिष्ठं यथा-

योनिरोधो मयारब्ध इति पद्यं पठन्बुधः ।
शश्वदुत्फुल्लनासेन तटस्थेनोपहस्यते ॥ ५ ॥

परनिष्ठमपहसितं यथा-

रतोत्सवे वल्लभयज्ञसूत्रं कण्ठावलग्नं परिमोचयन्तीम् ।
द्विजाङ्गनां दीर्घतरं श्वसन्तीं तारस्वनं वारवधूर्जहास ॥ ६ ॥

परनिष्ठमतिहसितं यथा-

चोरः कामरिपोर्गृहं निशि गतः शूलं कपालं हर-
न्बीजं धूर्तफलस्य तण्डुलधिया नीत्वा पुनर्भुक्तवान् ।
व्यावल्गन्प्रचलन्स्खलन्परिपतन्मुह्यन्विघूर्णन्हस-
न्नद्राङ्गध्वनिमुक्तमौलिकुसुमं स्ववेश्यया हस्यते ॥ ७ ॥

तका उदाहरण "निशासु" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि तरुणी जे हैं ते रात्रिमें तैलकी बुद्धिसे लिया जो मसीजल उससे लिप्त है मुखारविन्द जिसका ऐसे गोपको देखकरिके प्रातःकाल पडताहै बाष्पजल जिस क्रियामें जैसे होय तैसे और अव्यक्त है कण्ठध्वनि जिस क्रियामें जैसे होय तैसे हँसतीभई ॥

अब परनिष्ठ उपहसितका उदाहरण "योनिरोधः" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि मैंने जो निरोध अर्थात् आग्रह आरब्ध किया इस तात्पर्यसे 'योनिरोधो मयारब्ध' इस वाक्यको बोलता हुआ जो पण्डित सो 'योनिका रोध' ऐसे जुगुप्सित अर्थका प्रतिपादक उस वाक्यको मानकरिके निरन्तर श्वासभरसे फूलीहुई है नासिका जिसकी ऐसे तटस्थ पुरुषसे हास्ययुक्त किया जाता है। अब परनिष्ठ अपहसितका उदाहरण "रतोत्सवे" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि क्रीडाके समयमें कण्ठमें लगा हुआ जो प्रियका यज्ञोपवीत उसको छुडाती हुई और दीर्घतर श्वास लेती अर्थात् हँसतीहुई ऐसी ब्राह्मणकी स्त्रीको देखकरिके वेश्या जो है सो बडा भारी है शब्द जिस क्रियामें जैसे होय तैसे हँसती भई ॥ अब परनिष्ठ अतिहसितका उदाहरण "चोरः कामरिपोः",

शोकस्य परिपोषः करुणः। आशाविच्छेदे सति सर्वेन्द्रियक्षमो वा। न च विप्रलम्भेऽतिव्याप्तिः। तत्रेष्टाशायाः सत्त्वात्, तद्विच्छेदे तु स विप्रलम्भः करुण एव। शोको दुःखम्। वर्णोऽस्य कपोतचित्रितः। दैवतं वरुणः। स च स्वनिष्ठः परनिष्ठश्च। स्वशापबन्धनक्लेशानिष्टैर्विभावैः स्वनिष्ठः। परेष्टनाशशापबन्धनक्लेशादीनां दर्शनस्मरणैर्विभावैः परनिष्ठः। स्वनिष्ठो यथा-

---

इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि रात्रिमें चोर जो है सो महादेवके घरमें गया वहां त्रिशूल और कपाल इनको हरण करता हुआ, चावलकी बुद्धिसे धतूरेके दानोंको लेकरिके भोजन करता भया फिर वलगन करता हुआ और बहुत चलता हुआ और ठोकर खाताहुआ और पडता हुआ और मोहको प्राप्त होता हुआ और घूमता हुआ और हँसता हुआ ऐसा वह चोर बडी भारी है ध्वनि जसमें जैसे होय तैसे और गिरा है मस्तकका पुष्प जिस क्रियामें जैसे होय तैसे अप्सराओंसे हँसा जाताहै अर्थात् अप्सराएं उसकी हँसी करती हैं।

अब करुणरसका लक्षण कहते हैं "शोकस्य" इत्यादि वाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि शोकरूप स्थायिभावकी जो परिपुष्टता अर्थात् भग्नावरणचित्संबन्ध सो करुण रस है। तहां विनिगमनाविरहसे शोकावच्छिन्न जो भग्नावरण चित् उसको भी करुणरसत्व होनेपर शोकका असाधारण कार्य जो सर्वेन्द्रियक्षम अर्थात् ग्लानि तदवच्छिन्न जो चित् सो भी करुण रस होगा तो सर्वेन्द्रियक्षममें भी करुणरसावच्छेदकता विनिगमकाभावसे प्राप्त होगी सो अनिवार्य है। वह क्षम अन्तःकरणवृत्तिसे भिन्न भी है तो भी करुणरसरूप है, इस अभिप्रायसे दूसरा लक्षण कहते हैं कि आशाका विच्छेद होनेपर जो सर्वेन्द्रियक्षम अर्थात् ग्लानिसे करुण रस है। परन्तु इस पक्षमें क्लेश बहुत है इस हेतु द्वितीय पक्षमें जो वापद-प्रयोग है सो अरुचिसूचक है। द्वितीय लक्षणमें 'आशाविच्छेदे' सति यह न कहें तो विप्रलंभशृंगारमें अतिव्याप्ति होगी क्योंकि वहां भी इन्द्रियक्षम है इस हेतु आशाविच्छेद होत सन्ते यह पद दिया तब विप्रलंभमें अतिव्याप्ति नहीं होगी क्योंकि विप्रलंभमें आशाका विच्छेद नहीं होताहै किन्तु इष्टकी आशा रहती ही है। जो विप्रलंभमें इष्टकी आशा निवृत्त होजाय तो वह विप्रलंभ करुण ही है सो जानना।

तव नाथ शरः शरासनं तव देहेन सहैव भस्मसात्।
अहमस्मि ततः प्रतीयते तव नास्मीति किमुच्यतामितः ॥ ८ ॥

परनिष्ठो यथा-

अनुवनमनुयान्तं बाष्पवारि त्यजन्तं
मृदितकमलदामक्षाममालोच्य रामम्।

अब प्रथम लक्षणमें जो शोक पद कहा उसका अर्थ कहते हैं कि शोक दुःखको कहना, इस रसका वर्ण कपोतवत् चित्रित है, और देवता वरुण है। यह करुण दोप्रकारका है। एक स्वनिष्ठ दूसरा परनिष्ठ। तहां आपका शाप आपका बन्धन और आपका क्लेश आपका अनिष्ट एतत्स्वरूप विभावोंसे जो करुण रस होय वह स्वनिष्ठ है, इस पक्षमें बन्धनादि जो उपाधि उनको शोकका विभावत्व प्राप्त होताहै इस हेतु आपके अधिकरणमें रहनेवाला आलम्बन विभाव होय जिसका ऐसा जो करुण रस सो स्वनिष्ठ है और आपके अधिकरणमें न रहनेवाला ऐसा आलंबन विभाव होय जिसका वह करुण रस परनिष्ठ है सो जानना। इसही अभिप्रायसे कहते हैं कि परका इष्टनाश और शाप बन्धन क्लेशादिके दर्शनस्मरणरूप विभावसे जो करुण रस वह परनिष्ठ है। और शापबन्धनादिका आश्रयभूत जो प्राणी सो करुण रसके विभाव हैं, यह जो सिद्धान्त पक्ष उसमें तो स्वाश्रय है आलंबन विभाव जिसका ऐसा जो करुण रस वह स्वनिष्ठ है और स्वाश्रयसे अन्य है आलंबन जिसका ऐसा जो करुण रस सो परनिष्ठ है सो जानना। यहां यह शंका है कि "बन्धाताद् व्यसनात्" यह जो भरताचार्यकी उक्ति सो इस पक्षमें विरुद्ध होती है क्योंकि इस ग्रन्थसे बन्धनादिको ही विभावताका कथन है। इसका समाधान यह है कि बध्यमानको भी बन्धन विना करुणका विभावत्व नहीं होताहै इस अर्थको भरतवाक्य ध्वनित करताहै। इस ही प्रकार सब जगह विभावोंमें रीतिका अनुसरण करलेना, इस ही अभिप्रायसे यहां स्वशापबन्धनादिको विभाव कहेहैं।

अब स्वनिष्ठ करुणरसका उदाहरण "तव" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि रतिकी उक्ति है कि हे नाथ! आपका शर और धनुष आपके देहके साथ एक ही कालमें भस्म होगया और मैं हूं अर्थात् भस्म नहीं हुई हूं इस हेतु मैं आपकी नहीं हूं ऐसा जाना जाताहै ऐसे निश्चयके उत्तर क्या कहूं? अर्थात् हमको त्यागकरिकै किस प्रकार परलोकके पथिक हुए इत्यादि क्या कहूं। अब परनिष्ठ करुण रसका उदाहरण-"अनुवनम्" इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं। श्लोकार्थ यह है कि वनको लक्ष्यकरिकै जाते हुए और बाष्पजलको त्यागते हुए और म्लान कम-

दिनमपि रविरोचिस्तापमन्तः प्रसूते
रजनिरपि च धत्ते तारकाबाष्पबिन्दून् ॥ ९॥

परिपूर्णः क्रोधो रौद्रः, सर्वेन्द्रियाणामौद्धत्यं वा। वर्णोऽस्य रक्तो दैवतं रुद्रः। यथा-

चण्डांशुः किं न चक्रं भुजगपतिरसौ वर्तते वा न पाशः
कुन्तः किं दन्तिदन्ता न च गिरिरशनिः किं न शस्त्रैः किमन्यैः।
भीमोऽहं दुष्टदुर्योधननिधनसमुद्दण्डबाहुप्रकाण्डः
प्रत्यावृत्तप्रकोपप्रलयहुतवहो नास्मि कस्याऽपि वश्यः ॥१०॥

यथा वा-

लमालाकी तरह कृश ऐसे रामको देखकरिकै दिन भी सूर्यके प्रचण्ड आतपस्वरूप तापको अर्थात् दिनके मध्यमें आतिज्वरको प्रकट करताहै और रात्रि भी तारका स्वरूप बाष्पबिन्दुओंको धारण करती है।

अब रौद्रका लक्षण कहतेहैं "परिपूर्णः" इत्यादि वाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि परिपूर्ण जो क्रोधरूप स्थायिभाव सो रौद्र है। अथवा पूर्वोक्त प्रकारसे सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी जो उद्धतता सो रौद्र है। इसका वर्ण रक्त है, देवता रुद्र है। यद्यपि रौद्र रस अमूर्त होनेसे रक्तरूपवान् नहीं हो सकताहै, देवताके रूपसे रूप कहोगे सो बन नहीं सकगा क्योंकि रुद्रका रूप श्वेत है फिर रक्तवर्ण कैसे कहा ? यह शंका है तथापि अन्तःकरणवृत्तिकालमें देवताका जैसा वर्णका अनुभव किया जाताहै उस ही वर्णसे रसको वर्णवत्ताका अध्यवसान करते हैं। ऐसा हुआ तो क्रोधाविष्ट रुद्रका भी वर्ण रक्त है इस हेतु रसको भी रक्तवर्ण कहा। कोपकालमें वर्ण रक्त होताहै इसमें "कोपेन चास्या वदनं मषीवर्णमभूत्तदा" यह वाक्य प्रमाण है। यहां मषी गुञ्जाका नाम है सो जानना ॥ अब रौद्र रसका उदाहरण-"चण्डांशुः" इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं। श्लोकार्थ यह है कि भीमसेन कहताहै कि सूर्य जो है सो चक्र नहीं है क्या? शेष नागपाश नहीं है क्या? हाथीके दांत भाले नहीं हैं क्या? पर्वत वज्र नहीं है क्या? अपि तु है हीं फिर और शस्त्रोंसे क्या प्रयोजन है? दुष्ट जो दुर्योधन उसके मारनेके निमित्त सम्यक् प्रकार ऊंचा किया है दण्ड जिसने ऐसा है बाहुरूप अवयव जिसका ऐसा और प्रत्यावृत्त अर्थात् फिर उद्दीप्त जो क्रोध सो ही है प्रलयकालीन अग्नि जिसका ऐसा जो मैं भीम सो किसी आधीन नहीं हूं।

क्रीडातुङ्गतुरङ्गटापपटलीखर्वीकृतोर्वीधर-
श्रेणीस्फूर्जितधूलिधारिणि तमस्तोमावलीढं जगत् ।
बद्धस्पर्द्धकरीन्द्रवृन्दचरणव्याभुग्नभोगीश्वर-
व्यग्रोदग्रफणाग्ररत्नरुचिभिर्विद्योतयामो वयम् ॥ ११ ॥

परिपूर्ण उत्साहः सर्वेन्द्रियाणां प्रहर्षो वा वीरः । वर्णोऽस्य गौरः । दैवतं शक्रः । स च त्रिधा-युद्धवीरदानवीरदयावीर-भेदात् । इयांस्तु विशेषः । स चोत्साहो युद्धवीरे प्रतापाऽध्य-वसायादिप्रभवः, दानवीरे दानसामर्थ्यादिप्रभवः, दयावीर आर्द्रतादिप्रभवः । युद्धवीरो यथा-

संग्रामाङ्गणमागते दशमुखे सौमित्रिणा विस्मितं
सुग्रीवेण विचिन्तितं हनुमता व्यालोलमालोकितम् ।

अब उदाहरणान्तर कहते हैं "क्रीडातुङ्ग" इत्यादि श्लोकसे । श्लोकार्थ यह है कि किसीकी उक्ति है कि शरोंसे क्रीडा करनेको उच्चतर अश्व उनके खुरोंका जो समूह उनसे खोदे गये जो पर्वतके समूह उनसे उत्पन्न जो धूलिसमूह तद्रूप जो अन्धकारसमूह उसके व्याप्त ऐसा जो जगत् अर्थात् सामन्त सैन्यादि उसको हम नृपेश्वरकी दीर्घताको नहीं सहकारिके बांधी है स्पर्धा जिनने ऐसे जो बडेबडे हाथियोंके चरण उनसे भारभरसे नम्रीकृत जो भोगीश्वर अर्थात् पृथ्वीका आधार भूत शेष नाग उसकी व्यग्र अर्थात् चलित और उत्कृष्ट जो फणामणि उनकी कान्तिसे प्रकाशित करते हैं । अभिप्राय यह है कि पर्वतके चूर्णसे जो विवर उससे निकली जो मणियोंकी कान्ति उनसे जगत्को प्रकाशित करतेहैं । अब वीरताका लक्षण कहते हैं " परिपूर्णः " इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि परिपूर्ण जो उत्साह अथवा पूर्वोक्तप्रकारसे जो संपूर्ण इन्द्रियोंका प्रहर्ष सो वीर है । इसका वर्ण गौर है, देवता इन्द्र है । वह वीर तीन प्रकारका है एक युद्ध-वीर, दूसरा दानवीर, तीसरा दयावीर । इतना विशेष है कि वह उत्साह युद्ध-वीरमें तो प्रतापके ज्ञानसे उत्पन्न होताहै, और दानवीरमें दानसामर्थ्यसे उत्पन्न होताहै, और दयावीरमें आर्द्रतादिसे उत्पन्न होताहै ।

अब युद्धवीरका उदाहरण "संग्राम" इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं । श्लोकार्थ यह है कि रावण जो है उसको संग्रामभूमिमें आवत सन्ते लक्ष्मण विस्मयको प्राप्त

श्रीरामेण परन्तु पीनपुलकस्फूर्जत्कपोलश्रिया
सान्द्रानन्दरसालसा निदधिरे बाणासने दृष्टयः ॥ १२ ॥

दानवीरो यथा-

अभ्यागच्छति मंदिरं द्विजकुले खण्डाय खण्डाम्बुधिं
क्षाराब्धिं लवणाय दुग्धजलधिं दुग्धाय चेद्दास्यति।
दुर्वारो विरहो भवेदिति भिया दीनेव दिव्यापगा
यस्यांघ्रिं न जहाति विप्रवपुषे रामाय तस्मै नमः ॥ १३ ॥

दयावीरो यथा-

दयाबीजं हरेर्नेत्रमंकुरस्तत्र भास्करः।
ततः समुत्थितावेतौ पल्लवौ रामलक्ष्मणौ ॥ १४ ॥

होते हैं। अभिप्राय यह है कि आजही कृतकृत्य होंगे इस हर्षसे विस्मयको प्राप्त हुए, और सुग्रीव चिन्तवन करता हुआ। अभिप्राय यह है कि किस प्रकार हमही इसको मारकर श्रीरामके अनृणी होंगे, यह चिन्तवन करता भया। और हनुमान् व्यालोल अर्थात् राम, रावण दोनोंका एक कालमें चक्षुका संचार जैसे होय तैसे झांकते भये, अभिप्राय यह है कि राम आज्ञा दें तो इसको बांधकर गिरा दूं इस विचारसे झांकते भये, परन्तु रामने तो धनुषमें दृष्टिको स्थापित करदी। कैसे हैं राम कि उत्साहका कार्य जो अंगपुष्टि उससे युक्त और रोमाञ्चसे स्फूर्जत् अर्थात् शोभित है कपोलश्री जिसकी ऐसे, दृष्टि कैसी है कि निविड आनन्दात्मक रससे आलसयुक्त ऐसी ॥

अब दानवीरका उदाहरण- "अभ्यागच्छति" इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं। श्लोकार्थ यह है कि विप्रवपु अर्थात् ब्राह्मण अथवा ब्राह्मणके कार्यसंपादनार्थ है शरीर जिनका ऐसे अर्थात् परमपुरुषरूप जो वह राम उनके अर्थ नमस्कार है। वह कौन सो कहतेहैं कि गंगा इस भयसे ही मानो दुःखित होकरिके जिसके चरणका त्याग नहीं करती है, यह भय कौन सो कहतेहैं कि ब्राह्मणकुल याचक होत सन्ते आपके मन्दिरको प्राप्त होत सन्ते अर्थात् अतिथिताको प्राप्त होत सन्ते परशुराम जो है सो खांडके निमित्त खण्डसमुद्रको, लवणके निमित्त क्षारसमुद्रको, दुग्धके निमित्त दुग्धसमुद्रको, जो देदेंगे अर्थात् ब्राह्मणोंके आधीन करदेंगे तो हमारा जो विरह अर्थात् प्रियविश्लेष सो अप्रतीकार होजायगा इस भयसे।

अब दयावीरका उदाहरण कहतेहै "दयाबीजम्" इत्यादि श्लोकसे।

भयस्य परिपोषः सर्वेन्द्रियविक्षोभो वा भयानकः ।
वर्णोऽस्य श्यामो दैवतं यमः । स च स्वनिष्ठः परनिष्ठश्च ।
अपराधात्स्वनिष्ठो यथा-

गोपीक्षीरघटीविलुण्ठनविधिव्यापारवार्ताविदोः
पित्रोस्ताडनशंकया शिशुवपुर्देवः प्रकाश्य ज्वरम् ।
रोमाञ्चं रचयन्दृशौ मुकुलयन्प्रत्यंगमुत्कम्पयन्
सीत्कुर्वंस्तमसि प्रसर्पति गृहं सायं समागच्छति ॥ १९ ॥

श्लोकार्थ यह है कि विष्णुका जो नेत्र सो दयाका वीज अर्थात् असाधारण कारण है (यहां दयापदका वाक्यार्थ इच्छा विशेषसे अतिरिक्त है) वह दया व्यञ्जनावृत्तिसे इच्छाविशेषरूप दयावीरोत्साहकी वोधक है, ऐसा हुआ तो रक्षणादिरूप व्यापार ही यहां दयापदार्थ है, इससे वमनाख्य दोषका निवारण होगया सो जानना । उस दयावीजरूप नेत्रमें अंकुर सूर्य होतेभये, उस अंकुरसे ये राम लक्ष्मण पल्लव होतेभये, यहां ईदृशपल्लवारोपाऽनुगुणरूप जो अनुभाव उससे अनुभावित गम्यजगद्विभावित गम्योत्साहचिन्तादि संचारित दयावीरोत्साह व्यंग्य है इस हेतु उदाहरण बनगया ।

अब भयानकका लक्षण कहतेहैं "भयस्य" इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि भयकी पुष्टता अथवा सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी क्षुब्धता जो है सो भयानक है । इसका वर्ण श्याम है, दैवता यम है वह दो प्रकारका है एक स्वनिष्ठ दूसरा परनिष्ठ । यहां भी पूर्ववत् स्व अर्थात् भयानकके अधिकरणमें रहनेवाला जो विभाव सो है आलंवन जिसका अथवा स्वका जो अधिकरण सो ही है आलंवन जिसका वह स्वनिष्ठ भयानक रस है इसही अभिप्रायसे कहतेहैं कि अपराधसे जो भय सो स्वनिष्ठ है यहां अपराध भी स्वनिष्ठ जानना । अब भयानकका उदाहरण "गोपीक्षीर" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि बालशरीर श्रीकृष्ण जो हैं सो गोपियोंका दुग्धसे भराहुआ जो घट उसका जो लूटना सो ही है फल जिसका ऐसा जो व्यापार उसकी कथाको जानते हुए । जो पितामातारूप नन्द यशोदा तत्कर्तृक ताडनकी शंकासे ज्वरको प्रकाशित करिके रोमाञ्चको रचतेहुए और दृष्टिको मुकुलित करते हुए और तत्तत् अंगको उत्कम्पित करते हुए और सीत्कारको करते हुए, सायंकाल अन्धकार होत सन्ते घर आते हैं ॥

परनिष्ठो यथा-

गंगायाः सलिले निमज्जति जटाजूटे परिभ्राम्यति
भ्रश्यत्यक्षिहुताशने फणिफणाभोगे क्वचिल्लीयते।
कुब्जीभूय हरस्य कर्णसुषिरं निर्गन्तुमुत्कण्ठते
राहोरास्यमुदीक्ष्य किं न कुरुते बालस्तुषारद्युतिः ॥१६॥

विकृतनिनदात्परनिष्ठो यथा-

कुर्वाणे दशभिर्मुखैर्दशमुखे नादं सुरैः कंपितं
दिङ्नागैश्चकितं हरैरपि हयैरुत्पुच्छमाधावितम्।
सुग्रीवस्तु समुच्छलज्जलनिधिव्यालोलवीचिभ्रमि-
भ्रश्यत्सेतुविशङ्कया हनुमतो वक्त्रे दृशौ सन्दधे ॥ १७ ॥

अब परनिष्ठ भयानकका उदाहरण "गंगायाः" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। यहां स्वाधिकरणमें नहीं रहनेवाला जो विभाव सो है आलम्बन जिसका अथवा स्वाधिकरणसे अन्य है आलम्बन जिसका ऐसा जो भयानक रस वह परनिष्ठ कहाताहै। यहां परनिष्ठ क्रूरतासे परनिष्ठ जानना। श्लोकार्थ यह है कि बाल अर्थात् कलावशिष्ट जो चन्द्रमा है सो राहुके मुखको देखकरिके क्या क्या साहस नहीं करता है अपि तु सब साहस करताहै क्योंकि शास्त्रमें ऐसा कहाहै कि साहसपर प्राप्त हुए बिना मनुष्य कल्याणको नहीं देखताहै और साहसमें प्राप्त होकरिके जो जीता है तो देखताहै। वही साहस दिखाते हैं कि महादेवशिरःस्थ गंगाके जलमें डूबता है, और हरके जटाजूटमें भ्रमण करताहै और नेत्ररूप अग्निमें पड़ताहै और फणी अर्थात् सर्पके फणाभोगमें कहीं गुप्त होजाताहै, और कुब्ज अर्थात् शरीरको प्रवेशाऽनुगुणकरिके महादेवके कर्णविवरमें जानेकी उत्कण्ठा करताहै।

अब परकृत जो विकृत शब्द उससे परनिष्ठ भयानकका उदाहरण कहते हैं "कुर्वाणे" इत्यादि श्लोकसे। श्लोकार्थ यह है कि रावण जो है उसको दशमुखोंसे दशदिशाओंमें नाद करत सन्ते देवता कम्पको प्राप्त होगये और दिङ्नाग अर्थात् ऐरावतादि विस्मयको प्राप्त होगये और सूर्यके सातों अश्व भी उच्च पुच्छको करिके दौड़ते भये, सुग्रीव तो उछलता हुआ और अतिक्षोभको प्राप्त जो समुद्र उसकी वेगयुक्त जो लहर उनका जो आवर्त उससे नाशयुक्त सेतुकी शङ्काकरिके हनुमान्के मुखमें दृष्टिको योजित करता भया। अब बीभत्सका लक्षण कहते हैं।

जुगुप्सायाः परिपोषो बीभत्सः । सर्वेन्द्रियाणां संकोचो वा। वर्णोऽस्य नीलो देवतं महाकालः । स च स्वनिष्ठः परनिष्ठश्चेति । स्वनिष्ठो यथा-

कालीकुण्डलिनीकुतूहलमिथःप्रारब्धथूथूत्कृति-
न्यञ्चद्वीचिचलद्विहायसि वलज्झल्लीनिपातस्पृशि ।
बद्धस्पर्द्धविपक्षपक्षरुधिरस्रोतःस्विनीस्रोतसि
भ्रश्यत्युद्भ्रमति स्खलत्यथ रणक्रोधाकुलो भार्गवः ॥१८॥

परनिष्ठो यथा-

छत्रं कुम्भीन्द्रकर्णैर्विरचयत नुतं चामरं व्यालपुच्छै-
र्मालां मुण्डैः प्रचण्डैः सृज गजजघनैर्मण्डपं योजयस्व ।

"जुगुप्सायाः" इत्यादि वाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि परिपुष्ट जो जुगुप्सा अथवा सम्पूर्ण इन्द्रियोंका जो संकोच सो बीभत्सरस है। इसका वर्ण नील है, और देवता महाकाल है। यह दो प्रकारका है-एक स्वनिष्ठ दूसरा परनिष्ठ। यहां भी स्वाधिकरण वृत्तिविभाव है आलम्बन जिसका अथवा स्वाधिकरण है आलम्बन जिसका ऐसा बीभत्स स्वनिष्ठ है। और स्वाधिकरणमें नहीं रहनेवाला विभाव है आलम्बन जिसका अथवा स्वाधिकरणाभिन्न है आलम्बन जिसका वह बीभत्स परनिष्ठ है सो जानना॥

अब स्वनिष्ठ बीभत्सका उदाहरण "कालीकुण्डलिनी" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि परशुराम जो हैं सो बांधी है स्पर्द्धा जिसने ऐसा जो शत्रुवर्ग उसके रुधिरसे उत्पन्न जो नदी उसके प्रवाहमें पडते हैं, और मोहको प्राप्त होतेहैं और ठोकर खाते हैं। कैसे हैं परशुराम कि रणसम्बन्धी जो क्रोध उससे आकुल अर्थात् संग्रामाऽनुगुण क्रोधसे व्यग्र ऐसे। प्रवाह कैसा है कि कालीनामिका और कुण्डलिनीनामिका जो योगिनीविशेष उनने कौतुकसे परस्पर आरम्भ की जो थूथूत्कृति अर्थात् थूकना उससे चलती हुई जो तरंग उनमें चलता हुआ जो गगन अर्थात् गगनसम्बन्धी तारा सो है जिसमें ऐसा। और वलित जो झिल्ली उसका जो परिपतन उससे युक्त ऐसा॥ अब परनिष्ठ बीभत्सका उदाहरण "छत्रम्" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि कुण्डलिनीनामिका जो योगिनी प्रेतमुख्य उसके पुत्रका जो विवाह उसके प्रारम्भसे है जन्म जिसका ऐसा

अन्त्रैर्नीराजनायाः कलय विधिमितिप्रेतवृद्धाङ्गनाना-
मालापः कुण्डलिन्यास्तनयपरिणयारम्भजन्मा बभूव १९

विस्मयस्य सम्यक्समृद्धिरद्भुतः, सर्वेन्द्रियाणां ताटस्थ्यं वा। वर्णोऽस्य पीतो दैवतं ब्रह्मा। स च स्वनिष्ठः परनिष्ठश्च। स्वनिष्ठो यथा-

लीलानिबद्धपाथोधिर्हेलाहतदशाननः।
स रामः सीतयाश्लिष्टमात्मानं बह्वमन्यत ॥ २० ॥

परनिष्ठो यथा-

त्यक्ता जीर्णदुकूलवद्वसुमती बद्धोम्बुधिर्बिन्दुव-
द्बाणाग्रेण जरत्कपोतक इव व्यापादितो रावणः।

प्रेतवृद्धस्त्रियोंका इस प्रकार आलाप होता भया। किस प्रकार सो कहते हैं कि बडे जो हस्तियोंके कर्ण उनसे छत्र बनावो, और दो जने घोडोंकी पुच्छोंसे चामर बनावो, और प्रचण्ड अर्थात् उग्र है दर्शन जिनका ऐसे जो मुण्ड उनसे मालाबनावो, और हाथियोंकी जंघाओंसे मण्डप बनावो, और अन्त्रोंसे नीराजनाविधि अर्थात् आरतियोंको करो। यहां रसका आश्रय जो देखनेवाले पुरुष सो आक्षेप योग्य हैं यह बात आगे व्यक्त होगी ॥

अब अद्भुतका लक्षण कहते हैं "विस्मयस्य" इत्यादि वाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि विस्मयकी जो सम्यक्समृद्धि अर्थात् पुष्टता अथवा सर्वेन्द्रियोंकी जो तटस्थता सो अद्भुत है। इसका वर्ण पीत है देवता ब्रह्मा है। यह भी दो प्रकारका है एक स्वनिष्ठ दूसरा परनिष्ठ। इनका लक्षण पूर्ववत् जानना। अब स्वनिष्ठ अद्भुत रसका उदाहरण "लीलानिबद्ध" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि वह राम सीतासे श्लिष्ट आत्माको बहुत मानता भया। वह कौन कि लीलासे बाँधा है समुद्र जिसने। फिर वह कौन कि लीलासे मारा है रावणको जिसने। यहां पूर्वार्धमें द्वितीयान्त पाठ होवे तो 'लीलानिबद्धपाथोधिं हेलाहतदशाननम्' ऐसा अर्थ करना कि प्रसिद्ध जो राम सो लीलानिबद्ध पाथोधि और हेलाहतदशानन ऐसे आत्माको सीतासे संश्लिष्ट होनेपर बहुत मानता भया। जिस प्रकार सीताश्लेषसे विस्मित होता भया तिस प्रकार किसीसे विस्मित नहीं हुआ यह अभिप्राय दोनोंही पाठोंसे फलित है सो जानना।

अब परनिष्ठ अद्भुतका उदाहरण "त्यक्ता" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ

लंका काऽपि विभीषणाय सहसा मुद्रेव हस्तेऽर्पिता
श्रुत्वैवं रघुनन्दनस्य चरितं को वा न रोमाञ्चति ॥ २१ ॥

अत्युक्तिभ्रमोक्तिचित्रोक्तिविरोधाभासप्रभृतयो अद्भुता एव ।

अत्युक्तिर्यथा-

भूयादेष सतां हिताय भगवान्कोलावतारो हरिः
सिन्धोः क्लेशमपास्य यस्य दशनप्रान्ते स्थितायाः भुवः ।
तारा हारति वारिदस्तिलकति स्ववाहिनी माल्यति
क्रीडादर्पणति क्षपापतिरहर्देवश्च ताटंकति ॥ २२ ॥

यथा वा-

दिव्यहरेर्मुखकुहरे विस्तीर्णे पर्णति व्योम ।
चूर्णति चन्द्रः क्रमुकति कनकगिरिः खदिरसारति खरांशुः २३

यह है कि इस प्रकार रामका चरित सुनकरिके कौन पुरुष रोमाञ्चयुक्त नहीं होताहै अपितु सब ही रोमाञ्चयुक्त होते हैं । किस प्रकार सो कहतेहैं कि पुराने वस्त्रकी तरह ममताको त्यागकरिके पृथिवी अर्थात् राज्यका वनवास लेकर त्याग कर दिया । और समुद्रको अनायाससे बिन्दुकी तरह बांध दिया । और बाणके अग्रभागसे वृद्ध कपोतकी तरह दुर्बलतासे रावणको मार दिया । और कोई अर्थात् अपरिमित धनशालिनी जो लंका सो मुद्राकी तरह अल्पत्वाभिमानसे विभीषणको आश्वासनार्थ प्रथमदर्शनमें ही हातमें देदी । प्रतिज्ञामात्र भी नहीं की । इसप्रकार अत्युक्ति आदिक चारों अद्भुतरसके अभिव्यञ्जक ही हैं इससे इन सबका अद्भुतमें अन्तर्भाव कर देना । तहां अत्युक्तिका उदाहरण "भूयादेष" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि यह जो सूकरशरीरयुक्त भगवान् सो साधुपुरुषोंके हितके अर्थ होवो । यह कौन सो कहते हैं पृथिवीके उद्धारप्रसंगमें समुद्रमज्जनसे प्राप्त जो क्लेश उसको दूरकरिके जिनके दशनके अग्रमें स्थित जो पृथिवी उसके नक्षत्रगण जो हैं सो उज्ज्वलमणिहारवत् आचरण करताहै । मेघ जो है सो तिलकरूप होताहै । गंगा स्वच्छतासे पुष्पमालारूप होती है । चन्द्रमा क्रीडादर्पणवत् आचरण करताहै। सूर्य स्वर्णवर्ण होनेसे ताटंकवत् आचरण करताहै ।

इसका दूसरा उदाहरण "दिव्य" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि शूकरावतार विष्णुके विस्तीर्ण मुखछिद्रमें आकाश ताम्बूलवत् आच-

भ्रमोक्तिर्यथा–

तीव्रैस्तिग्मरुचः करैः परिचितां सेक्तुं कपोलस्थलीं
नीराणां निकरं करेण हरता तुच्छीकृते वारिधौ।
मैनाकं समुदीक्ष्य पंकपतितं शालूकशंकाजुषो
हेरम्बस्य पुनातु दन्तशिखरव्यापारलीलारसः ॥ २४ ॥

यथा वा–

अन्तःक्रोधाग्निजाग्रत्कपटनरहरिस्फारनिःश्वासवात–
व्याधूता वारिवाहाः कुलधरणिभृतः सानुषु प्रस्खलन्तः।
दिङ्नागैर्नागबुद्ध्या वनहरिणकुलैः शंकया शाद्वलानां
छायाभ्रान्त्या किरातैः शितिवसनधिया वीक्षिताःस्वर्वधूभिः २५

चित्रोक्तिर्यथा–

रण करताहै, और चन्द्रमा चूर्णस्थानाभिषिक्त होताहै, स्वर्णपर्वत सुपारीवत् आचरण करताहै, सूर्य काथाकी तरह आचरण करताहै, इसका अभिप्राय यह है कि भगवन्मुखान्तर्गत जगत्का रञ्जक होनेसे खदिरवत् सूर्य है।

अब भ्रमोक्तिका उदाहरण "तीव्रैः" इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं। श्लोकार्थ यह है कि गणेशका जो दन्तका शिखरकी तरह शिखर अर्थात् दन्ताग्रभाग उसका जो खोदनेके अनुकूल व्यापार तहां जो लीलारस अर्थात् प्रीत्यतिशय सो मनोगोचर होकरिकै पवित्र करो। कैसे हैं गणेश कि पंक अर्थात् सूकते हुए समुद्रके कर्दममें पतित जो हिमालयपुत्र मैनाकनाम पर्वत उसको देखकरिकै शालूक जो कन्द-विशेष उसकी शंकासे युक्त, क्या होत सन्ते सो कहतेहैं कि अतिशय उष्ण जो सूर्यकिरण उनसे व्याप्त जो गण्डस्थली उसको सींचनेके अर्थ जिसके समूहको हरण करनेवाला जो शुण्डादण्ड उससे समुद्र तुच्छीकृत होत सन्ते अर्थात् शुष्कहोत सन्ते इसका दूसरा उदाहरण "अन्तः" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि अन्तःकरणस्थित क्रोधाग्निसे उत्पन्न हुआ जो कपटनृसिंह अर्थात् धृतावतार नृसिंहका बहुत निःश्वासपवन उससे क्षिप्त और कुलाचलपर्वतके शिखरमें पडते हुए जो मेघ सो दिग्गजोंनें हस्तीकी बुद्धिसे, और वनहरिणसमूहोंने शाद्वल

गिरिर्वमति मौक्तिकावलिमलिद्वयं स्थावरं
शरत्तुहिनदीधितिर्व्यजनमारुतं वाञ्छति ।
धनुः स्वपिति मान्मथं शिथिलबन्धमन्धन्तमो
नमो मनसि जायते किमपि कौतुकं तन्वते ॥ २६ ॥

लाक्षणिकमखिलं चित्रोक्तिरेव । विरोधाभासो यथा-

कोऽप्यसौ तव मुकुन्द नन्दकोऽनन्दको भवति कंससंपदः ।
कुण्डली त्वमसि कालियं कुतो दूरतो नयसि तन्निवेदय॥२७॥

तृणविशेषकी बुद्धिसे और किरातोंने छायाभ्रान्तिसे और अप्सराओंने नील वस्त्रबुद्धिसे देखे गये ।

अब चित्रोक्तिका उदाहरण "गिरिः" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि पर्वत अर्थात् तत्त्वसे अध्यवसित कुचमण्डल जो है सो मौक्तिकावलि अर्थात् तत्त्वसे अध्यवसित स्वेदबिन्दुरचनाको बाहर करताहै । और भ्रमरद्वय अर्थात् तत्त्वसे अध्यवसित लोचनयुगल निश्चेष्ट है। और शरत्कालिक चन्द्रमा अर्थात् तत्त्वसेअध्यवसित मुख,व्यजनका पवन अर्थात् तत्त्वसे अध्यवसित श्वासको धारण करताहै । और कामदेव सम्बन्धी धनुष अर्थात् तत्त्वसे अध्यवसित जो भ्रुकुटियुग सो उदासीनताको धारण करता है । और अन्ध जो तम अर्थात् अतिनीलतासे अध्यवसित केशपाश गलितबन्ध होताहै, इस हेतु कुछ अर्थात् आप आपका अनुभवैकवेद्य जो कौतुक अर्थात् चमत्कार उसको विस्तार करनेवाले जो कामदेवरूप आप उनको अनन्य साधारणकलापात्रतासे नमस्कार करताहूं। सारोपलक्षणा और साध्यवसानलक्षणासे युक्त पदोंसे घटित जितने वाक्य हैं सो सम्पूर्ण चित्रोक्ति ही हैं ॥ विरोधाभासका उदाहरण " कोऽप्यसौ " इत्यादिश्लोकसे कहतेहैं । श्लोकार्थ यह है कि हे मुकुन्द ! आपका जो कोई यह अर्थात् सर्वलोकप्रसिद्ध है प्रभाव जिसका ऐसा जो नन्दक नाम खड्ग सो कंससंपत्तिका अनन्दक अर्थात् नाशक होताहै । हे मुकुन्द ! तुम कुण्डली अर्थात् कर्णभूषणयुक्त हो फिर कालियनाम जो कुण्डली उसको कौन उद्देश्यसे दूर करिके फेंकते हो, इसका प्रयोजन हमको कहो। यहां कुण्डलीसामान्यके अपाकरणको उद्देश्य करिके जो यह आपका व्यापार उससे कुण्डलीसामान्यका अपाकरण आपके समीपमें नहीं सम्भव हुवा इससे विरोध हुवा । सर्पसामान्यका अपाकरण सम्भव होनेसे आभासरूप हुआ । इसही प्रकार पूर्वार्धमें

नाट्ये च सर्वे रसा आनन्दरूपा अद्भुताख्यः परनिष्ठ एवेति। चित्तवृत्तिर्द्विधा-प्रवृत्तिर्निवृत्तिश्चेति। निवृत्तौ यथा शान्तरसस्तथा प्रवृत्तौ मायारस इति प्रतिभाति। एकत्र रसोत्पत्तिरपरत्र नेति वक्तुमशक्यत्वात्। न च स रतिरेव स कस्यास्तु व्यभिचारी। न शृङ्गारस्य, तद्वैरिणो बीभत्सस्यापि तत्र सत्त्वादत एव न बीभत्सस्यापि। न हास्यस्य, तद्वैरिणः करुणस्य तत्र सत्त्वादत एव न करुणस्याऽपि। न रौद्रस्य, तद्वैरिणोऽद्भुतस्याऽपि तत्र सत्त्वादत एव नाद्भुतस्याऽपि। न च वीरस्य, तद्वैरिणो भयानकस्याऽपि तत्र सत्त्वादत एव न भयानकस्याऽपि। नाऽपि शान्तस्य, तद्विरोधित्वात्। न च सामान्य एव रसस्तद्विशेषा इतरे भवन्ति, शान्तरसस्य तर्हि रसाभासत्वापत्तेः। किन्तु विद्युत इव रतिहासशोकक्रोधोत्साहभयजुगुप्साविस्मयास्तत्रोत्पद्यन्ते विलीयन्ते च।

भी जानलेना। नाट्यमें और चकारसे काव्यमें सम्पूर्ण अर्थात् आठ प्रकारके रस आनन्दरूप हैं, और अद्भुताख्य अर्थात् विस्मयनाम जो व्यभिचारभाव है सो परनिष्ठ अर्थात् नटसे भिन्न जो सामाजिक तद्गत ही है। एवकारसे यह सूचित हुआ कि काव्यमें तो कविमें और सहृदयमें भी अद्भुत रस रहताहै॥

अब नाट्यभिन्न स्थलमें शान्तरस विरोधितासे मायारसकी व्यवस्था करनेको भूमिका रचते हैं "चित्तवृत्ति" इत्यादि वाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि चित्तवृत्ति दो प्रकारकी है। एक प्रवृत्ति, एक निवृत्ति। तहां उपादेयताबुद्धि प्रवृत्ति है और हेयताबुद्धि निवृत्ति है। निवृत्तिमें जैसे शान्त रस है तैसे प्रवृत्तिमें मायारस है, यह दीखता है क्योंकि निवृत्तिमें रसोत्पत्ति है, प्रवृत्तिमें नहीं है, यह कहनेमें समर्थ नहीं हो सकते हैं इससे मायारस मानना चाहिये। यहां यह शंका होती है कि मायारस रतिरूप ही मानना। इसका समाधान यह है कि यह रति कौन रसका व्यभिचारिभाव होगा? शृंगारका कहोगे सो नहीं कह सकते हो, क्योंकि शृंगारका विरोधी जो बीभत्स उसकी भी मायारसमें स्थिति है। इससे शृंगारका व्यभिचारिभाव नहीं होसकताहै। इस ही हेतु बीभत्सका भी व्यभिचारी नहीं होसकताहै क्योंकि बीभत्सका विरोधी शृंगार भी वहां है। कदाचित् हास्यका कहो तो सो भी नहीं हो सकता है

तेन तत्र ते व्यभिचारिभावा इति । लक्षणं च प्रबुद्धमिथ्याज्ञानवासना मायारसः । मिथ्याज्ञानमस्य स्थायिभावः । विभावाः सांसारिकभोगार्जकधर्माधर्माः । अनुभावाः पुत्रकलत्रविजयसाम्राज्यादयः यथा—

वाटी लाटीदृगम्भोरुहरभसकरी वापिका काऽपि कान्ता
तल्पं चन्द्राऽनुकल्पं प्रकटयति मिथः कामिनी कामनीतिम् ।
रूपं कामाऽनुरूपं मणिमयभवनं बन्धुरं बन्धुरागो
लोके लोकेश कस्य त्वमसि न भवने सर्वदा सर्वदाता ॥ २८ ॥

क्योंकि हास्यका विरोधी करुण भी वहां है । इसही हेतु करुणका भी नहीं हो सकता है कदाचित् रौद्रका व्यभिचारी कहो तो सो भी नहीं हो सकता है । क्योंकि रौद्रका विरोधी अद्भुत भी वहां स्थित है इसही हेतु अद्भुतका भी नहीं होसकता है । कदाचित् वीरका कहो तो सो भी नहीं कह सकतेहो क्योंकि उसका विरोध भयानक भी वहां स्थित है, इसही हेतु भयानकका भी नहीं होसकताहै । शान्तका कहो तो सो भी नहीं हो सकताहै क्योंकि शान्तरस और मायारस दोनों विरुद्ध हैं इस हेतु मायारस रतिरूप नहीं है किन्तु भिन्न ही है । यहां यह कहो कि रस तो सामान्यरूपही है उसहीको मायारस कहते हैं । उसहीके विशेष आठ भेद हैं तो मायारस भिन्न नहीं रहा ये ही आठों मायारस कहावैंगे तो सो नहीं कह सकते हो, क्योंकि ऐसा कहो तो शान्तरसरसाभास कहा जायगा इस हेतु मायारस अतिरिक्तही कहना । इस मायारसमें रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय ये विद्युत्की तरह उत्पन्न होते हैं और लीन होजाते हैं, इस हेतु मायारसमें ये आठों व्यभिचारिभाव हैं सो जानना ।

मायारसका लक्षण यह है कि प्रबुद्ध जो मिथ्याज्ञानवासना सो मायारस है मिथ्याज्ञान इसका स्थायिभाव है । और सांसारिक भोगके उत्पादक जो धर्माधर्म सो विभाव हैं । पुत्रकलत्रविजयसाम्राज्यादि अनुभाव हैं । इसका उदाहरण "वाटी" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि लाट देशकी जो स्त्री उसकी जो दृष्टि सो ही हुआ कमल उसका जो वायुप्रेरणासे रभस अर्थात् वेग उसको करनेवाली फलपुष्पसमृद्धिहेतुसे ऐसी जो वाटिका सो स्थित है । और कोई जो कान्ता सो मनोविश्राम हेतु होनेसे कमल और सारंगादि पक्षियोंकी प्राप्ति होनेसे ऐसी जो वापिका सो स्थित है । और चन्द्रमाके सदृश पर्यंकको यह कामिनी

नाट्यभिन्ने परं निर्वेदस्थायिभावकः शान्तोऽपि नवमो रसो भवति।

नैर्मल्यमार्दवादि संबंधसे प्रकट करती है। (यह कहनेसे उपभोगसाधनसम्पत्ति कारक अदृष्टरूप उद्दीपन विभाव कहा) और कामिनी जो है सो कामनीति अर्थात् कामक्रीडाको परस्पर प्रकट करती है (यह कहनेसे बहिरिंद्रियजन्य आनन्द लक्षण शृंगाररूप व्यभिचारी सूचित किया) और मनोऽभिलषित जो रूप अर्थात् आकृत्यादि उसको कामिनी प्रकट करती है (यह कहनेसे कामिन्यादिकी बुद्धि-रूप जो मिथ्याज्ञानवासना उसका आलम्बन विभाव दिखाया) और मणिमय जो गृह सो बन्धुर अर्थात् ऊँचानीचा सब ऋतुओंमें सेवनीय किया गया है (यह कहनेसे धनसम्पत्ति कही)और बंधुराग अर्थात् बन्धुजनप्रीति स्वयं संपादित है सो हे लोकेश! तुम कौन पुरुषको लोकमें सर्वकालमें सब देनेवाले नहीं हो? अर्थात् तीनों लोकोंमें विद्यमान जो संपूर्ण लोक उनको यथाकाल अनायाससे ही सब कुछ देते हो। यहां यथोक्त विभावादि संयोगसे अभिव्यज्यमान जो कविकल्पित नायकगत मिथ्याज्ञानवासना सो मायारस है सो जानना।

नाट्यभिन्न स्थलमें अर्थात् आदिकाव्य इतिहासादिमें तो निर्वेद है स्थायी जिसका ऐसा शान्त भी नवम रस है। यहां यह शंका होती है कि शान्त रसभिन्न माननेमें क्या प्रमाण है इसका समाधान यह है कि मुनिवचन ही प्रमाण है सो वचन ऐसा है कि "शृंगारः करुणः शान्तो रौद्रो वीरोऽद्भुत-स्तथा। हास्यो भयानकश्चैव बीभत्सश्चेति ते नव"। फिर यह शंका होती है कि शान्त रस नाट्यमें क्यों नहीं होता है, इसका समाधान यह है कि नटमें शमका अभाव है इस हेतु और विषयवैमुख्यात्मक जो शान्त रस उसके विरोधी जो गीत-वाद्यादि उनकी नटमें स्थिति होनेसे वहां शान्तरसका संभव नहीं है सो जानना। इसमें प्रमाण "शान्तस्य शमसाध्यत्वान्नटे च तदसम्भवात्। अष्टावेव रसा नाट्ये न शान्तस्तत्र युज्यते" यह वचन है और नवीनोंका तो यह मत है कि नटमें शम नहीं है इस हेतु नाट्यमें शान्त रस नहीं है यह कहना असंगत है, क्योंकि नटमें रसाभिव्यक्तिका स्वीकार नहीं है इस हेतु नटमें शान्त रस मत हो सामा-जिकोंमें शम है इस हेतु सामाजिकोंको रसोद्बोध होनेमें कुछ बाधक नहीं। यहां यह शंका हुई कि नटमें जो शमका अभाव मानोगे तो शमके अभिनयकी प्रका-शकता नटको नहीं होगी। इसका समाधान यह है कि शमका अभाव भी

निर्वेदस्य परिपोषः शान्तो रसः, दोषप्रशमो वा । दोषाः कामक्रोधादयः । अस्य विषयदोषविचारविरक्त्यादयो विभावाः । अनुभावा आनन्दाश्रुपुलकहर्षगद्गदवचनादयः । यथा-

हेयं हर्म्यमिदं निकुञ्जभवनं श्रेयः प्रदेयं धनं
पेयं तीर्थपयो हरेर्भगवतो गेयं पदाम्भोरुहम् ।
नेयं जन्म चिराय दर्भशयने धर्मे निधेयं मनः
स्थेयं तत्र सितासितस्य सविधे ध्येयं पुराणं महः ॥ २९ ॥

होगा तो भी अभिनयप्रकाशकता होनेमें कुछ बाधक नहीं ऐसा न मानें तो नटको भयक्रोधादिका भी अभाव होनेसे उसकी भी अभिनयप्रकाशकता शास्त्रोक्त असंगत होजायगी। यदि ऐसा कहो कि नटको क्रोधादिका अभाव होनेसे क्रोधादिका कार्य जो वधबन्धनादि उसकी उत्पत्ति नहीं भी होगी तो भी कृत्रिम जो क्रोधादिका कार्य बधबन्धनादि उसकी शिक्षाभ्याससे उत्पत्ति होनेमें कोई बाधक नहीं है तो शमका अभाव होनेसे भी शमको कार्यकी शिक्षाभ्याससे उत्पत्ति होनेमें कोई बाधक नहीं तो नाट्यमें भी शान्तरस होनेमें कोई बाधक नहीं सो जानना।

अब शान्तरसका लक्षण कहते हैं "निर्वेदस्य" इत्यादि वाक्यसे। वाक्यार्थ यह है कि निर्वेदरूप स्थायिभाव अर्थात् नित्यानित्य वस्तुविचारजन्य विषयविरागाख्य चित्तवृत्तिविशेषकी जो पुष्टता अथवा दोषका जो प्रशमन सो शान्त रस है। यहां दोषपदसे कामक्रोधादि जानना। इसके विभाव विषयमें दोषविचार विरक्ति इत्यादि जानना और अनुभाव आनन्दसम्बन्धी अश्रु और रोमाञ्च और हर्ष और गद्गद वचन इत्यादि हैं। इसका उदाहरण "हेयम्" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि कोई शान्त पुरुष कहताहै कि प्रसिद्ध सम्पत्तियुक्त जो गृह सो अस्थिर होनेसे त्यागयोग्य है। (यह कहनेसे विषय दोषबुद्धिरूप आलम्बन विभाव कहा) और निकुञ्जभवन आश्रय करनेके योग्य है। (इससे औदासीन्यरूप अनुभाव कहा) और धन देनेके योग्य है इसमें हेतु यह है कि धन राग द्वेषका हेतु है इससे अनुपादेय है और तीर्थका जल अनायाससम्पत्तिसे पान करने योग्य है (यह कहनेसे हिताहितप्राप्तिपरिहारार्थ क्रियाहानिरूप अनुभावान्तर कहा) और समग्र ऐश्वर्य और वीर्य, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य

यथा वा–

वेदस्याध्ययनं कृतं परिचितं शास्त्रं पुराणं श्रुतं
सर्वं व्यर्थमिदं पदं न कमलाकान्तस्य चेत्कीर्तितम् ।
उत्खातं सदृशीकृतं विरचितः सेकोऽम्भसा भूयसा
सर्वं निष्फलमालवालवलये क्षिप्तं न बीजं यदि ॥ ३० ॥

इति श्रीभानुदत्तविरचितायां रसतरंगिण्यां रसनिरूपणंनाम
सप्तमस्तरंगः ॥ ७ ॥

यह जो छह प्रकारका भग यही हुआ गुण उससे युक्त जो विष्णु उसके चरणारविन्दकी स्तुति करना (यह कहनेसे मतिरूप व्यभिचारिभाव सूचित किया) और कुशकी शय्यामें बहुत कालपर्यन्त जन्मको नीत करना (यह कहनेसे तपस्विदर्शनरूप उद्दीपन कहा) और मनको धर्ममें स्थापित करना (यह कहनेसे वेदान्तश्रवणादि उद्दीपनान्तर कहा) और गंगायमुनाके सान्निध्यमें अर्थात् प्रयाग नगरमें स्थिति करना (यह कहनेसे तपोवन दर्शनादि उद्दीपनान्तर कहा) और पुराणमह अर्थात् आत्मचैतन्यध्यान करनेके योग्य है (यह कहनेसे नासाग्रदृष्टिरूप अनुभाव ध्वनित किया ।)

शान्तरसका द्वितीय उदाहरण "वेदस्य" इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं । श्लोकार्थ यह है कि यदि कमलाकान्त भगवान्‌के चरणारविन्दका कीर्तन नहीं किया तो वेदका अध्ययन किया सो और शास्त्रका परिचय किया सो और पुराणका श्रवण किया सो यह सब व्यर्थ हैं। क्योंकि अध्ययनादिजन्य फल विनाशवान् है (यह कहनेसे विरक्ति आलम्बन विभाव कहा। वेदाध्ययनसे वेदान्तश्रवण उद्दीपन कहा । शास्त्रका परिचय कहनेसे उद्दीपनान्तर कहा। पुराणश्रवण किया यह कहनेसे वैराग्यदृढताप्रतिपादनके निमित्त नियतकालिकताफलविषयक अरुचिमें बीज कहा) इसमें दृष्टान्त कहते हैं कि मृत्तिकाको बरोबरकी और खनन भी की और बहुत जलसे सींच भी दी यह सम्पूर्ण निष्फल है यदि क्यारीमें बीजको नहीं पटकै तो (यह कहनेसे मतिरूप व्यभिचारिभाव कहा)।

इति श्रीरसतरङ्गिणीभाषाटीकायां रसनिरूपणं नाम सप्तमस्तरङ्गः ॥ ७ ॥

अष्टमस्तरंगः ८.

स्थायिभावजा दृष्टिरष्टधा । स्निग्धा, हृष्टा, दीना, क्रुद्धा, दृप्ता, भीता, जुगुप्सिता, विस्मिता चेति । व्यभिचारिभावजा दृष्टिर्विंशतिधा—शून्या, मलिना, श्रान्ता, लज्जिता, शंकिता, मुकुला-ऽर्द्धमुकुला, ग्लाना, जिह्मा, कुञ्चिता, वितर्किता, अभितप्ता, विषण्णा, ललिता, केकरा, विकोशा, विभ्रान्ता, विप्लुता, त्रस्ता, मदिरा चेति । रसभेदादष्टधा रस दृष्टिः—कान्ता, हास्या, करुणा, रौद्रा, वीरा, भयानका, बीभत्सा, अद्भुता चेतिषट्त्रिंशद्भेदा दृष्टयः । कुणिता, विकसिताऽर्द्धविकसिता, चकिता, सुप्ता, घूर्णिताऽलसा, विवर्तिता-ऽर्द्धविवर्तिता, पर्यस्ता, शून्या, स्तिमिता चेत्यादयो दृष्टिभेदा ऊहनीयाः ।

दृष्टि तीन प्रकारकी है—एक स्थायिभावजा, दूसरी व्यभिचारिभावजा और तीसरी रसजा, ये दृष्टि संगीतशास्त्राऽनुसार हैं । इस हेतु स्थायिभावभेदसे नियत है भेद जिसका ऐसी दृष्टि कहते हैं "भिभावजा" इत्यादि वाक्यसे । स्निग्धादिस्थायिभावजा दृष्टि आठ प्रकारकी है, और शून्यादि व्यभिचारिभावजा दृष्टि बीस प्रकारकी है । यद्यपि व्यभिचारिभावके तेतीस भेद कहे हैं, तज्जन्य दृष्टि बीस प्रकारकी कही, इस दृष्टिका यथायोग्य विनियोग नहीं हो सकेगा तथाऽपि उस विंशतिप्रकारकी दृष्टिका त्रयस्त्रिंशत् व्यभिचारिभावोंमें जिस प्रकार विनियोग होताहै सो संगीतशास्त्रमें प्रतिपादित है सो यहां अत्यन्त उपयुक्त नहीं है इस हेतु दिङ्मात्र प्रदर्शन करते हैं, जिस तरह ग्लानदृष्टि ग्लानि और अपस्मार दोनोंमें है । विकोशा दृष्टि मति, गर्व, स्मृति और उग्रता चारोंमें है । और विप्लुता उन्माद, दैन्य, दोनोंमें है । यह बात और जगह विस्तारपूर्वक है । और रसभेदसे नियत है भेद जिसका ऐसी रसदृष्टि शान्तादिभेदोंसे आठ प्रकारकी है और मतान्तरमें कुणिता आदिक भी दृष्टिभेद कहे हैं उनका भी ऊह कर लेना ।

इस रीतिसे स्त्रीपुरुषोंकी प्रकृति तथा अवस्थाके भेदसे भी दृष्टिभेद हैं परन्तु इस प्रकारके भेदको आप आपको अनुभवमात्रसे वेद्यता है इसमें सबका संवाद नहीं है और ये भेद अनन्त हैं इससे इन भेदोंको नहीं कहा । संगीतशास्त्रप्रसिद्ध जो दृष्टि विशेष लक्षण है उसके अनुसार दृष्टिविशेषका उदाहरण कहना चाहिये परन्तु तहां

तत्र ललिता यथा–

मनसिजनृपतिर्वा मण्डनं वा मदो वा
शशिमुखि भवनं वा यौवनं वा वयं वा।
अखिलमपि कृतार्थं वीचिविक्षेपखेल-
त्कमलविजयलीलाशालिना लोचनेन ॥ १ ॥

ग्लाना यथा-

पर्यस्तालकरोचिषः श्रमजुषः प्रस्पन्दगण्डत्विषः
शम्भौ शीकरशीतलेन शशिना वातं समातन्वति।
जीयास्तामचलाऽधिराजदुहितुर्निःस्पन्दनीलोत्पल-
च्छायानिद्रितचञ्चरीकमिथुनस्पर्द्धासमृद्धे दृशौ ॥ २ ॥

विस्तारभयसे दिङ्मात्रको आवेदन करनेके हेतु अशोक वनिकान्यायसे ललिताका उदाहरण कहते हैं "मनसिज" इत्यादि श्लोकसे। श्लोकार्थ यह है कि हे चन्द्रमुखि! कामदेव वा अलंकरण वा मद वा भवन वा यौवन वा हम ये सम्पूर्णभी तेरे नेत्रसे अभिलषितार्थप्राप्तिसे कृतार्थ होते हैं। कैसा है लोचन सो कहते हैं कि लहरका जो इकट्ठा होना उससे चञ्चल जो कमल उसका विषय है फल जिसका ऐसी जो लीला अर्थात् शोभाविशेष उससे युक्त ऐसा। ललिताका लक्षण शास्त्रमें यह कहा है कि "सभ्रूक्षेपस्मितापांगा कुञ्चिता मधुरोन्मुखी। ललिता ललने प्रोक्ता दृष्टिर्मन्मथतारका ॥" सो जानना।

इसही रीतिसे ग्लानाका उदाहरण कहते हैं "पर्यस्त" इत्यादि श्लोकसे। ग्लानाका लक्षण विनियोगपुरःसर संगीतशास्त्रमें कहाहै कि "अन्तर्निविष्टतारा या मलिना मन्दचारिणी। विश्लथभ्रूपक्ष्मपुटा ग्लाना ग्लानौ नियोजयेत्" सो जानना। उदाहरणश्लोकार्थ यह है कि पर्वतोंमें श्रेष्ठ जो हिमालय उसकी पुत्री पार्वतीकी भ्रूपुटसे ढकी हुई है कनीनिका जिसमें ऐसी दृष्टि सर्वोत्कर्षसे स्थित होवो। कैसी है दृष्टि कि निश्चल जो नील कमल उसकी छायामें निद्रित जो भ्रमरयुगल उसकी स्पर्द्धासे समृद्ध अर्थात् वढी ऐसी। क्या होत सन्ते सो कहतेहैं कि महादेव जो हैं सो जलकणसे ठण्डा किया हुआ जो चन्द्रमा अर्थात् चन्द्राकार व्यजन उससे पवन करत सन्ते। कैसी है पार्वती कि विखरता हुआ जो केशपाश उससे है कान्ति जिसकी ऐसी। और श्रम अर्थात् विपरीतरतिगर्भादिप्रयुक्त जो श्रम उससे युक्त और अतिशयितकम्पशालिनी जो कपोलशोभा उससे युक्त ऐसी। यह दिङ्मात्र दिखा दिया है और भी उदाहरणोंका ऊह करलेना।

एवमन्या अप्युदाहरणीयाः । अथ रसानां जन्यजनकभावः
तत्र भरतः-

शृङ्गारात्तु भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो मतः ।
वीरात्स्यादद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः ॥ ३ ॥

अयमुत्सर्गः, परेषामपि रसानां कार्यकारणभावदर्शनात् ।
पूर्वग्रन्थकारसम्मतिरपि-

कथासंग्रहयोगाच्च विवक्षावशतः कवेः ।
अन्योऽन्यं जन्यजनका रसभावा भवन्त्यमी ॥ ४ ॥

यथा-

मातुर्दृष्टा दृगम्भोरुहयुगलगलद्बाष्पधारामुदारां
तातस्य प्रेक्ष्य वक्षःस्थलरुधिरचयं क्रुध्यता भार्गवेण ।
हस्ते न्यस्तः सहस्रार्जुनदमनसमारम्भगम्भीरवीर्य-
स्फूर्जद्दोर्वल्लिहल्लीसकसकलकलासूत्रधारः कुठारः ॥ ५ ॥

अत्र वीरम्प्रति करुणबीभत्सयोः कारणता । यथा वा
तातचरणानाम्-

अब प्रसंगसे रसोंका कार्यकारणभाव कहतेहैं । तहां भरतसम्मति दिखातेहैं "शृङ्गारात्" इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि शृंगारसे हास्यकी और रौद्रसे करुणकी, वीरसे अद्भुतकी, बीभत्ससे भयानककी उत्पत्ति होती है, यह भी दिक्प्रदर्शन है । और और रसोंके भी कार्यकारणभाव दिखते हैं । यहां प्राचीन ग्रन्थकारोंकी सम्मति दिखातेहैं "कथा" इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि वर्णनीय कथामें जो संग्रह अर्थात् सन्दर्भविशेष उसका जो योग अर्थात् संघटन उससे और कविकी विवक्षासे रस और भाव अथवा रसके जो स्थायिभाव सो परस्पर जन्यजनक होते हैं । इस प्रकरणमें रसशब्दसे इस श्लोकको त्यागकरिके सर्वत्र स्थायिभाव समझना । मुख्य रसको अखण्डानन्दरूपता होनेसे जन्यजनकभाव नहीं बन सकताहै इस श्लोकमें भी प्रथम पक्षमें रसशब्दसे स्थायिभाव ही लेना ॥

इसका उदाहरण "मातुर्दृष्टा" इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं । श्लोकार्थ यह है कि माता जो रेणुका उसकी जो दृष्टि सो ही हुआ कमलयुगल

कुरंगाक्ष्या वेणीं सुभग विपरीते रतविधा-
वधिस्कन्धं दृष्ट्वा किमपि निपतन्तीमरिभटः ।
अधिग्रीवं युष्मत्प्रचलकरवालव्यतिकरं
स्मरन्नेव स्तब्धो विरमति परीरम्भणरसात् ॥ ६ ॥

अत्र भयानकम्प्रति शृंगारस्य कारणता । यथा वा--

युधि कुपितकृतान्तस्यन्दनस्पर्द्धिनादं
दिशिदिशि दशकण्ठस्त्यक्तवान्वारिदास्त्रम् ।
तडिति जनकपुत्र्याः साम्यमालोकमान--
स्त्यजति न पवनास्त्रं राघवः स्विन्नपाणिः ॥ ७ ॥

अत्र शृङ्गारम्प्रति वीरस्य कारणता । एतेषामङ्गाङ्गिभावापन्नानां रससङ्कर इति नाम लोका लपन्ति । रसानां मिथो विरोधोऽपि । तत्र भरतः--

---

उससे पडती हुई जो उदार अर्थात् वहुत वाष्पधारा उसको देखकरिकै, और पिता जो जमदग्नि उनका वक्षःस्थलसम्बन्धी जो रुधिरचय उसको देखकरिकै क्रोधयुक्त जो परशुराम उनने सहस्रार्जुनके खण्डनोद्योगसे गम्भीर जो वीर्य उससे शोभायमान जो वाहुलता तत्सम्बन्धी जो हल्लीसक अर्थात् नृत्य उसकी सकलकलाओंका जो कौशल उसका सूत्रधार अर्थात् प्रवर्तक आचार्य जो कुठार सो हाथमें लिया । यहां वीररसके प्रति रेणुकाविषय करुणा और तातसम्बन्धी वीभत्स दोनोंको कारणता है ।

इस प्रकरणमें पितृकृत श्लोक उदाहरणान्तर कहते हैं "कुरंगाक्ष्या" इत्यादि श्लोकसे । श्लोकार्थ यह है कि हे सुभग ! आपका जो अरिभट अर्थात् शत्रुभूत योद्धा सो विपरीत सुरतविधिमें स्कन्धमें कोई भागसे कुछ पडती हुई जो हरिणनयनाकी वेणी उसको देखकरिकै ग्रीवामें आपका जो प्रकम्पनशाली खड्ग उसके संवन्धको स्मरण करता हुआ अर्थात् स्मरण समकालमें ही स्तब्ध होत सन्ते आलिंगनसम्बन्धसे विरामको प्राप्त होताहै । यहां भयानक रसके प्रति शृंगार रसको कारणता है । अव कविविवक्षावैचित्र्य दिखानेके निमित्त प्रकारान्तरसे उदाहरणान्तर कहते हैं "युधि कुपित" इत्यादि श्लोकसे । श्लोकार्थ यह है कि दशकण्ठ अर्थात् रावण जो है सो युद्धमें कोपयुक्त जो यमराज उसका जो स्यन्दन उसकी

शृङ्गारबीभत्सरसौ तथा वीरभयानकौ ।
रौद्राद्भुतौ तथा हास्यकरुणौ वैरिणौ मिथः ॥ ८ ॥

वैरिरस इव वैरिरसस्य विभावाऽनुभावव्यभिचारिभावाः । अपि रसहानिकरा इति तानपि वारयेत् । तत्र प्राचीन-सम्मतिः-

न च वैरिरसं ब्रूयाद्वैरिणो न विभावकम् ।
नाऽनुभावं न सञ्चारिभावं चाऽपि कदाचन ॥ ९ ॥

स्पर्द्धा करनेवाला ऐसा है नाद जिसमें ऐसा जो मेघास्त्र उसको दिशा दिशामें छोडता भया, उस समयमें मेघास्त्रमें जो बिजलीकी चमक उसमें सीताकी समानताको देखता हुआ और इस ही हेतु खिन्न है हाथ जिसका ऐसा जो राम सो पवनास्त्रको नहीं छोडता भया । यहां शृंगारके प्रति वीरको कारणताहै । यह जो अंगांगिभावको प्राप्त उक्त प्रकारके अविरुद्ध रस उनका जो एकस्थानमें समावेश उसको लोक रससंकर कहते हैं । जिस प्रकार अनेक अलंकारोंकी प्राप्ति होनेसे प्रभाविशेष होनेसे भिन्न व्यवहार होजाताहै तिस ही प्रकार अनेक रसमेलनसे चमत्कारातिशय होनेसे भिन्नव्यवहारविषयता रसमें होती है, ऐसा हुआ तो अंगत्वप्रकारसे भासमान जो स्वस्थायीतरस्थायी सो है जिसमें उसको रससंकर कहते हैं । रसोंका परस्पर विरोध भी होताहै । जहां परस्पर विरोध होताहै तहां रसशबलव्यवहार होताहै सो जानना ॥

विरोध दो प्रकारका है-एक तो यह कि एक रसके अधिकरणमें दूसरे रसकी स्थिति न होय, दूसरा यह कि एक रसके ज्ञानसे दूसरे रसका ज्ञान रुक जाय । इसमें प्रमाण भरतवाक्य कहतेहैं " शृंगार" इत्यादिसे । वाक्यार्थ यह है कि शृंगार और बीभत्स ये दोनों रस और वीर, भयानक ये दोनों रस और रौद्र, अद्भुत ये दोनों रस और हास्य, करुण ये दोनों रस, परस्पर विरोधी हैं । इस रसके विरोध प्रसंगमें यह कहतेहैं कि वैरिरसकी तरह वैरिरसके विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव जे हैं ते भी रसहानि करनेवाले हैं इस हेतु काव्यमें वैरि रसके विभावाऽनुभावोंका भी वारण करना चाहिये इसमें प्राचीनसंमति भी कहते हैं "न च" इत्यादि श्लोकसे । श्लोकार्थ यह है कि एक काव्यमें वैरिरसका प्रयोग नहीं करना और वैरिरसके विभाव, अनुभाव, सञ्चारिभावोंका भी प्रयोग नहीं करना । जहां रसको अंगांगिभाव होताहै तहां तो विरोध होता ही नहीं है किन्तु अगांगिभावको अप्राप्त जो दो रस

किन्त्वङ्गांगिभावाऽनापन्नयोरेकदेशे सति वैरम्। देशभेदे सति न वैरम्। वृक्षे कपिसंयोगतदभावयोरिव। समयभेदे सत्यपि न वैरम्, भूतले घटतदभावयोरिव। वैरं यथा-

प्रियेणालिङ्ग्यमानायाः प्रियायाः कुचकुम्भयोः।
करजक्षतनिर्मुक्तं रुधिरं कुङ्कुमायते ॥ १० ॥

देशभेदे सति विरोधाभावो यथा--

एकः सिन्धुसुतः करे विलुलितश्चक्रे द्वितीयः स्थितः
कामध्वंसिनि कालकूटकवलक्लिष्टे तृतीयो धृतः।
भूयः क्षीरनिधेर्घनप्रमथने सक्तश्चतुर्थस्तथा
पायासुः कमलापतेर्भगवतो नानारसाः पाणयः ॥ ११ ॥

अत्र शृङ्गाररौद्रकरुणाऽद्भुतानां रसानां विरोधाभावः।

उनको एक अधिकरण होनेसे वैर होताहै, अधिकरणभेद होनेसे प्रथम विरोध नहीं होताहै अर्थात् एक रसके अधिकरणमें दूसरे रसकी स्थिति न होना यह जो विरोध सो नहीं होसकताहै, जैसे वृक्षमें कपिसंयोग और कपिसंयोगाभाव इन दोनोंको मूल शाखारूप अधिकरणभेदसे विरोध नहीं होताहै इसही तरह यहां भी जानना। समयभेद होत सन्ते भी विरोध नहीं होताहै जिस तरह पृथिवीमें कोई समयमें घटकी प्रतीति कोई समयमें घटाभावकी प्रतीति होतीहै तहां विरोध नहीं होताहै तिस तरह यहां भी जानना।

देश कालकी एकता होनेसे जो दोनों प्रकारका विरोध होताहै उसका उदाहरण "प्रियेण" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि प्रियसे आलिंगित ऐसी जो प्रिया उसके कुम्भसदृश कुचोंमें नखक्षतसे उत्पन्न जो रुधिर सो कुंकुमवत् आचरण करता है। अब देशभेद होत सन्ते विरोधाभावका उदाहरण "एकः" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि लक्ष्मीकान्त भगवान्के जो नाना रस अर्थात् तत्तद्रसयुक्त हस्त सो हमारी रक्षा करो। कैसे हैं हस्त कि एक हस्त तो लक्ष्मीके हस्तपर चञ्चल होत सन्ते स्थापित है और दूसरा हस्त चक्रमें स्थित है और तीसरा जो हस्त सो विषपानसे क्लेशयुक्त जो कामध्वंसी अर्थात् शिव उनपर धृत है और चतुर्थ हस्त इतरप्रयत्नानिष्पन्न समुद्रके घन प्रमथनमें सक्त है। 'भूयः' पद यहां

समयभेदेन यथा--
भग्नं कामरिपोर्धनुः परिहृतं राज्यं स्थितं कानने
निर्भिन्नस्त्रिशिराः खरस्य पिशितं स्पृष्टं कपिर्लालितः ।
लंकेशो दलितश्चिराय रुदितं लंकावधूनां श्रुतं
नीता सद्म विदेहभूस्तदखिलं रामस्य लोकोत्तरम् ॥ १२ ॥
अत्राद्भुतशान्तभयानकरौद्रबीभत्सहास्यवीरकरुणशृङ्गारा-
णां विरोधाभावः । अंगांगिभावानापन्नानां रसानां निवेशो
यत्र स रसशवल इति वेदितव्यम् । तस्याऽप्येतदेवोदाहर-
णम् । अंगयोर्वैरेऽपि न रसहानिर्भटयोर्वैरे प्रभोरिव । यथा--
सीतां संस्मर्य वीचिप्रचलकुवलयस्पर्द्धिचक्षुः क्षिपन्तीं
सेनां संवीक्ष्य रक्षःशरदलितवपुःशोणितासारसिक्ताम् ।

वाक्यालङ्कारमें है । यहां शृंगार, रौद्र, करुण और अद्भुत इन रसोंको एकाधिकरण भगवान्में स्थित होनेसे प्राप्त जो विरोध उसका भी नानाइस्तरूपअवच्छेदकभे-दसे निवारण है सो जानना ॥

अब समयभेदसे विरोधाभावका उदाहरण "भग्नम्" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि कामरिपु जो महादेव उनके धनुषको तोडा, और राज्यको त्याग किया, और वनमें निवास किया, और त्रिशिराको मारा, और खरके पिशितको स्पर्श किया, और कपिको लालित किया, और रावणका दलन किया, और बहुत कालतक लंकास्थित स्त्रियोंका रोदन सुना, और जानकीको घरमें प्राप्त किया यह संपूर्ण कृत्य रामके लोकोत्तर हैं । यहां अद्भुत, शान्त, भयानक, रौद्र, बीभत्स, हास्य, वीर, करुण और शृंगार इन रसोंको कालभेदसे विरोधका अभाव है। इसका अभिप्राय यह है कि विरुद्ध भी दो रस होंय तो भी एक रसकी चर्वणामें व्यवहित द्वितीय रसकी चर्वणा होय तहां द्वितीय विरोध भी नहीं है सो जानना । जहां अंगांगिभावको अप्राप्त अर्थात् विरुद्ध रसोंका निवेश होय तहां रसशवल होताहै सो जानना। उसका भी यही उदाहरण है अर्थात् "भग्नम्" इत्यादि श्लोक ही उसका उदाहरण है। कालभेदसे पूर्व पूर्वका उपमर्द यहां होताहै सो जानना । दो अंगोंको वैर भी रहै तो वहां भी रसहानि नहीं होती है, जिस तरह दो भटोंका विरोध भी रहे तो राजाकी हानि नहीं होती है तिसही तरह यहां भी जानना। इसका उदाहरण "सीताम्" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ

रामेण क्रोधदर्प्यद्दशमुखनिपतन्मुण्डलाभप्रमोद-
क्रीडत्कालीकरालभ्रुकुटिसहचरी सन्दधे चापयष्टिः॥ १३॥
अत्र शृंगारबीभत्सयोर्विरोधेऽपि न रसहानिः।
एवमङ्गाङ्गिभावापन्नयोर्विरोधिनोरेकत्र भावेऽपि न रस-हानिः। यथा-

भौजंगमं गिरिमयं जलदात्मकं वा
शस्त्रं यदेव मुमुचे दशकन्धरेण।
सर्वं विदेहतनयाविरहाकुलेन
रामेण वह्निमयशस्त्रमिव व्यलोकि॥ १४॥

ननु बीभत्सशृङ्गारयोः सहजवैरं कुतो मधु निपीय निष्ठीवतोः सम्भोगदर्शनादिति चेत्। सत्यम्, बीभत्सस्य जुगुप्सा स्थायिभावः। सा च तद्दर्शनेन तटस्थस्य भवति न तु तयोः रागोत्कटत्वादिति। ननु तथाऽपि बीभत्से रागो दृश्यते। तथाहि-

---

यह है कि रामने वीचि अर्थात् लहरीसे चलायमान जो कुवलय उसकी स्पर्धा करनेवाला अर्थात् चञ्चल जो नेत्र उसको चलानेवाली सीताको स्मरणकरिके और राक्षसके बाणोंसे विदारित जो शरीर उससे जो शोणित उसकी धाराके पतनसे सिक्त ऐसी सेनाको देखकरिके क्रोधसे अर्थात् तत्तत्कार्यादिके अविवेकसे दर्पयुक्त जो रावण उसका पतित जो मुण्ड उसके लाभसे जो हर्ष उससे क्रीडा करती हुई कालीकी कराल भ्रुकुटी कौटिल्य और मरणकारणतासे उसकी सहचरी जो चापयष्टि सो धारण की। यहां अंगभूत शृगार और बीभत्सरसोंको विरोध भी है तो भी रसहानि नहीं हुई। इसही प्रकारसे अंगांगिभावको प्राप्त जो दो विरोधी रस उनकी एकत्र स्थिति होनेसे भी रसहानि नहीं होती है।

इसका उदाहरण "भौजङ्गम्" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि रावणने नागपाश अथवा पर्वतास्त्र अथवा मेघास्त्र इत्यादि जो २ शस्त्र चलाया सो सब शस्त्र जानकीके विरहसे व्याकुल ऐसे रामचन्द्रने अग्निमयशस्त्रवत् देखा। यहां भयानकमें वीरको अंगता होनेसे रसहानि नहीं हुई। यहां यह शंका होती है कि बीभत्स और शृंगार इन दोनोंको स्वाभाविक वैर किसप्रकार होगा क्योंकि

यदपि हृदि विशाला मुण्डमाला न पाणि-
स्त्यजति नरकपालं रौरवं चर्म चैलम् ।
तदपि गिरिसुतायाः पक्षपातः पुरारौ
समुदयति विचित्रः कामिनोः प्रेमबन्धः ॥ १९ ॥

इत्यादाविति चेत्। सत्यम्, निजभर्तुरधमेऽपि भूषणे भक्त्यतिशयेन पत्न्यास्तत्र जुगुप्सैव नावतरति । जुगुप्सितत्वेन प्रतीयमानमेव हि जुगुप्सोत्पादकं भवति । किञ्च, प्रियसम्बन्धोपाधिकमधिकं तत्र प्रेमैवोत्पद्यते तस्मात्स्थायिभावाभावाद्बीभत्सस्तत्र न जायत इति ॥

ननु वीरस्य युधि गच्छतः सर्पस्पर्शे चकितता दृश्यते,

मधुपान करिकै थूँकते हुए कान्तकान्ताओंका सम्भोग देखते हैं तो वहां बीभत्स व शृंगार दोनोंकी स्थिति हुई । इसका समाधान यह है कि बीभत्सका स्थायी जुगुप्सा है सो जुगुप्सा थूँकना देखकरिकै तटस्थको होती है उन दोनोंको उत्कट राग होनेसे जुगुप्सा नहीं होती है, तो वहां बीभत्सकी स्थिति नहीं है । फिर यह शंका होती है कि आश्रयभेदसे बीभत्स व शृंगारके विरोधका उस स्थलमें वारण किया तो भी बीभत्स होतसन्ते शृंगार देखते हैं सो 'यदपि' इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि यद्यपि शिवके हृदयमें विशाल मुण्डमाला है । और हस्त मनुष्यके कपालका त्याग नहीं करता है । और मृगका जो चर्म सो वस्त्र है तथापि पार्वतीका महादेवमें जो पक्षपात अर्थात् प्रेमातिशय सो उदयको प्राप्त होताहै। इसही हेतु कामी व कामिनी इन दोनोंका जो प्रेमसम्बन्ध सो विचित्र अर्थात् प्रतिबंधकसे भी नहीं निवृत्त होता है यह जानते हैं इत्यादिमें बीभत्समें भी शृंगार देखतेहैं । इसका समाधान यह है कि आपके स्वामीको अधम भूषणम भी भक्त्यतिशयसे स्त्रीको जुगुप्सा ही नहीं उत्पन्न होती है क्यों कि जुगुप्सितत्तासे जो प्रतीयमान होताहै सो ही जुगुप्साका उत्पादक होताहै । यहां तो स्वामीमें जैसे उत्कट राग होताहै तैसे उनके भूषणमें भी उत्कट राग होनेसे जुगुप्सा उत्पन्न नहीं होती है । और सुनो कि प्रियकी संबंधरूप उपाधिसे उस भूषणमें अधिक प्रेमही उत्पन्न होताहै इस हेतु भर्ताके भूषण जुगुप्साव्यञ्जकका अभाव होनेसे बीभत्स वहां नहीं होताहै ॥

रौद्रे चाकस्मिकोत्पातातिपाते विस्मय इति चेत्। चकितता विस्मयश्च तत्र रसावेशान्न भवत्येव, सति वा विषयभेदः। वीरस्य न प्रतिभटाद्भयं किन्तु भुजंगमात्। रौद्रे च न प्रतिभटबलाधिक्ये विस्मयः किन्तूत्पाते। रसवैरस्योत्पादकमखिलमवधेयम्। तत्र पूर्वाचार्याः—

अन्यच्च रसवैरस्योत्पादकं वचनन्तथा।
न वाच्यं रसभावज्ञैर्नाट्यशास्त्रविशारदैः॥ १६॥

वचनमित्युपलक्षणम्। एवं विभावाऽनुभावेष्वपि द्रष्टव्यम्। यथा—

फिर यह शंका होती है कि युद्धमें जानेवाले वीरको सर्पस्पर्श होतसन्ते चकितता देखते हैं। और रौद्रमें आकस्मिक उत्पातका अतिपात होनेसे विस्मय देखते हैं। यह कहनेका अभिप्राय यह है कि वीर और भयानक इन दोनोंको विरोध नहीं होसकता है और रौद्र व अद्भुत इन दोनोंको विरोध नहीं होसकता है। इसका समाधान यह है कि वीरको सर्पस्पर्शमें चकितता और रौद्रमें उत्पातमें विस्मय ये रसावेशसे नहीं ही होते हैं यदि कदाचित् होते हैं तो विषयभेदसे होते हैं क्योंकि वीरको प्रतिभटसे भय नहीं होताहै किन्तु सर्पसे होताहै और रौद्रमें प्रतिभट बलाधिक्यसे विस्मय नहीं होता है किन्तु उत्पातसे होताहै तो इनको विरोध है ही सो जानना। उक्त प्रकारसे अविरोध संपादनकरिकै निषिद्ध्यमान भी रस रसशब्दसे अथवा शृंगारादि शब्दसे कहनेके योग्य नहीं है क्योंकि ऐसे कहनेमें रसको आस्वाद्यता नहीं रहती है उसके आस्वादमें व्यञ्जनामात्रनिष्पाद्यता सर्वसंमत है कदाचित् यह कहो कि रसको पदवाच्यता होनेपर भी व्यञ्जना होनेमें दोष नहीं है तो यह कहना युक्त नहीं क्योंकि व्यंगको वाच्य रखनेसे वमनाख्यदोष होजाता है, इसही रीतिसे स्थायिभाव और व्यभिचारिभावोंका भी पदवाच्यता होनेमें दोष जानना। इसही रीतिसे विभाव अनुभावकी जो असम्यक् प्रतीति और विलंबसे प्रतीति और प्रतिकूल विभाव अनुभावोंकी जो प्रतीति सो दोष है अर्थात् प्रकृतरसकी हानिकारक हैं। इन दोषोंको कविजन त्याग करदें यही बात कहते हैं कि रसवैरस्यके उत्पादक जो हैं उनको जान लेना चाहिये॥

इसमें पूर्वाचार्योंकी सम्मति कहतेहैं "अन्यच्च" इत्यादि कारिकासे। कारिकार्थ यह है कि रसभावोंको जाननेवाले और नाट्यशास्त्रविशारद ऐसे पुरुषोंने रसवै-

काऽहं क त्वं क मधुसमयः कुत्र वा दूतिकाऽसौ
मेघच्छायाप्रविचलमिदं कुत्र वा प्रेम यूनोः ।
आयुर्वायुप्रचलनलिनीवारिबिन्दूपमानं
मानं मुग्धे विसृज सकलं तुच्छमेव प्रतीमः ॥ १७ ॥

रस्यका उत्पादक सामान्यकरिकै वचन वा विशेषकरिकै वचन "न च वैरिरसं ब्रूयात्" इत्यादि वाक्यसे अन्य नहीं कहना चाहिये । यहां वचनपद विरुद्ध रस· विभावादिका भी परिचय करताहै । इस ही प्रकार विभावाऽनुभावोंमें भी जानलेना ।

विभावत्वरूपसे अथवा अनुभावत्वरूपसे प्रतीतिका अजनक अथवा विलम्बित प्रतीतिजनक वचन नहीं कहना सो अभिप्राय है । इसका उदाहरण "काहम्" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि मानवतीके प्रसाधनकी दूत्यादि· द्वारा करनेमें अशक्यताको माननेवाले नायककी यह उक्ति है कि—मैं कहां, तू कहां (यहां दो जो कपद दिये सो अधिक अन्तरको बोधित करते हैं इसका अभिप्राय यह है कि हमारा तुमारा समागम काकतालसमागम सदृश है) और वसन्तसमय कहां (यह कहनेसे बसन्तकी भी शीघ्र निवृत्ति है यह सूचित किया) और यह अर्थात् संघटनकालोचित वचनमें चतुर ऐसी दूतिका कहां (यह कहनेसे तुम्हारा आरोपित जो अपराध सो भी अत्यन्त असम्भावित ही है यह सूचित किया) और मेघच्छायासदृश चलायमान जो यह अर्थात् स्वाभाविक दोनोंका प्रेम सो कहां है (यहां मेघच्छायाका सादृश्य कहनेसे कुछ अवश्य होनेवाला है इस हेतु सदा चलनेवालेके सदृश जो हमारा तुम्हारा विघटनका कारण सो भी अनिवारणीय ही है यह सूचित किया) इदं इसपदसे यह सूचित किया कि कालान्तरमें इस प्रेमका आधिक्य होते सन्ते पश्चात्तापयुक्त होगी सो जानना । और युवति युवा इनका प्रेम कहां (यह कहनेसे प्रेमको आकस्मिकता सूचित की)

आपकी प्रार्थनाको भी विफलताकी आशंकायुक्त होकरिकै बलसे प्रवर्तनके निमित्त बलवत्तर अनिष्टका प्रतिपादन " आयुः " इत्यादि वाक्यसे करते हैं कि आयु जो है सो वायुसे चलायमान जो कमलिनी उसका जो जलबिन्दु तत्सदृश है (यह कहनेसे स्वभावसे नष्ट होनेवाली वस्तुकी नाशसाधनसम्पत्ति भी अनायाससे ही है यह सूचित किया) । हे मुग्धे ! अर्थात् करनेके योग्य है वा न करनेके योग्य है इस विचारसे रहित ऐसी, हित उपदेशसे मानका त्याग कर (स्वार्थपरायण जो तू उसको कौन हेतुसे हितत्व होगा ऐसी शंका मत कर । इस अभिप्रायसे कहताहै कि) सम्पूर्ण जगत्का स्वार्थसाधनविकल ही निर्वेदसे हम जानते हैं । इसका

अत्र निर्वेदप्रतिपादकमखिलं तच्च शृङ्गारविरोधि । अनौचित्यं सर्वथावधेयम् । तत्र प्राचीनग्रन्थः--

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम् ॥
प्रसिद्धौचित्यवद्वस्तु रसहर्षाय जायते ॥ १८ ॥

उद्वेगकरमनौचित्यम् । लोकयात्राप्रसिद्धमौचित्यम् । तस्माद्वयोर्यूनोर्यत्र मिथो रतिस्तत्रैव रसः । एकस्यैव रतिश्चेद्रसाभास एव । एकस्या एव रतिश्चेद्रसाभास एव । क्रमेणोदाहरणम्--

सीतासमागमश्लाघाबन्धुरं दशकन्धरम् ।
प्रहर्तुं क्षमते कामो रामो वा निशितैः शरैः ॥ १९ ॥

अत्र रावणस्यैव रतिर्न तु सीतायाः ।

अभिप्राय यह है कि बलसे प्रवृत्ति होत सन्ते भी काषायवस्तुके पानमें प्रवृत्तिकी तरह कटुता है ही, और शितोपलके स्वादमें प्रवृत्तिकी तरह एकरसता नहीं है इस हेतु हीनबल जो शृंगार है सो निर्वेदांग जो तुच्छताप्रतीति उससे रोका जाताहै । यह जो संपूर्ण प्रवट्टकार्थ सो भी अबाधित ही है सो जानना ।

रसका निरूपण करिकै रसाभासके निरूपणार्थ आरंभ करते हैं "अनौचित्यम्" इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि रसके प्रतिकूल जो अनौचित्य सो सर्वथा विचारणीय है । तहां प्राचीनसंमति दिखाते हैं--"अनौचित्यात्" इत्यादि श्लोकसे । श्लोकार्थ यह है कि अनौचित्य विना रसभंगका कारण और नहीं है और प्रसिद्ध है औचित्य जिसमें ऐसा जो काव्यबन्ध सो रसरूप आनन्दके निमित्त होताहै । "रसस्योपनिषत्परा" ऐसा भी पाठ है तहां यह अर्थ जानना कि उक्त जो बन्ध है सो रसका उत्कृष्ट प्रमाण है । अनौचित्य उद्वेगको करनेवाला है । तहां औचित्य क्या है सो कहते हैं कि लोकव्यवहारजन्यज्ञानविषयत्व ही औचित्य है इस हेतु दोनों युवति युवाओंकी जो परस्पर प्रीति सो जहां होय तहां ही रस है । एक नायकहीकी रति होय तो रसाभास ही है नायिकाहीकी रति होय तो भी रसाभास ही है । तहां पूर्वका उदाहरण कहते है "सीता" इत्यादि श्लोकसे । श्लोकार्थ यह है कि काम अथवा राम

निधुवनवनप्रान्ते यान्तं चलैर्नयनाञ्चलैः
किमिति वलितग्रीवं मुग्धे मुहुर्मुहुरीक्षसे ।
विफलमखिलं यूनोर्नो चेदुदेति परस्परं
रतिरथ मनोजन्मा देवः स एव निषेव्यताम् ॥ २० ॥

अत्र नायिकाया एव रतिर्न तु नायकस्य । एवमेकस्या अनेकविषया रतिराभास एव। एवमेकस्याऽप्यनेकविषया-रतिराभास एव। परन्त्वेष विशेषः, यस्य व्यवस्थिता बह्वयो नायिका भवन्ति तत्र न रसाभासस्तथा सति कृष्णस्य

जो हैं सो ही सीतासमागमयोग्यतासिद्धिके निमित्त नम्रीभूत रावणको तीक्ष्ण-बाणोंसे अथवा पुष्पसे प्रहारयुक्त करनेको समर्थ होते हैं । यहां रावणही की रति है सीताकी नहीं है ॥

अब नायिकामात्ररतिप्रयुक्त रसाभासका उदाहरण "निधुवन" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि हे मुग्धे ! सुरतप्रधानवनसमीपमें जाते हुए युवाको लज्जासे चञ्चल जो नेत्रपक्ष्म उनसे वलित है ग्रीवा जिस क्रियामें जैसे होय तैसे क्या उद्देश करिके वारम्बार देखती है ? यदि युवति युवाकी परस्पर प्रीति नहीं उदित होय तो सम्पूर्ण वीक्षणादि निष्फल है । अथ कहिये पक्षान्तर कहते हैं कि दोनोंको अनुराग होय तो वह जो ईक्षणादिका उद्देश्य मनोजन्मा देव अर्थात् काम ही सेवित करिये फिर वीक्षणादिकी क्या गणना करती है ? अभिप्राय यह है कि जो पुरुषको अनुराग होवे तो स्वतः पुरुषकी प्रवृत्ति होजायगी, यदि अनुराग नहीं होवै तो वीक्षणकी व्यर्थता युक्त ही है सो जानना । यहां नायिकाकी ही रति है नायककी नहीं है । इसही प्रकार नायिकाकी अनेक नायकोंमें रति जहाँ होय तहां भी आभास ही जानना इसही प्रकार नायककी अनेकनायिकाओंमें रति होय तो वह भी आभास ही है परन्तु नायकमें यह विशेष है कि जिस नायकको बहुत भी नायिका व्यवस्थित हैं तहां अनौचित्यके अभावसे आभासत्व नहीं है यदि वहां भी रसाभास मानो तो सकलनायकोत्तम कृष्णकी अनेककामिनीविषयिणी रतिको आभासतापत्ति होगी इस हेतु अव्यवस्थितबहुकामिनीविषयिणी रति जहां होय और वैषियिक नायककी प्रीति और बहुनायकविषयक प्रीति इन स्थलोंमें रसा-भास जानना, इस ही हेतु वैषयिककी और वेश्याकी जो प्रीति सो रसाभास है यह प्राचीनोंका मत है सो जानना ॥

सकलोत्तमनायकस्य बहुकामिनीविषयाया रतेराभासतापत्तेः । तस्मादव्यवस्थितबहुकामिनीवैषयिकबहुनायकपरमेतत्, अत एव वैषयिकानां वेश्यानां च रसाभास इति प्राचीनमतम् । एकस्या अनेकविषया रतिर्यथा–

संपत्कस्याऽद्य तारा भवति तरलिता यत्पुरो नेत्रतारा
दृष्टा केनाऽद्य काञ्ची यदभिमुखगता वेपते रत्नकाञ्ची ।
उग्रः कस्याऽद्य तुष्टः सखि यदनुगमे कश्चिदुग्रोऽभिलाषः
स्नातं केनाऽद्य वेणीपयसि विलुलिता यत्कृते काऽपि वेणी१२

अत्र किमो बाहुल्येन वेश्यात्वम् ।

एकस्यानेकनायिकाविषया रतिर्यथा–

पञ्चेषुक्षितिपप्रतापलहरी प्रीतिस्त्वदीया पुनः
कासां वा स्तनकाञ्चनाञ्चलतटे काश्मीरपंकायते ।
कासां मूर्धनि नैव नीरजदृशां सिन्दूररेखायते
कासां वा न च कर्णयोः प्रियसखे माणिक्यभूषायते ॥ २२ ॥

जहां नायिकाको अनेक नायकविषयक रति है तहां रसाभासका उदाहरण "सम्यक्" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं । श्लोकार्थ यह है कि हे सखि!जिसके आगे नेत्रतारा जो है सो अभिलाषसहित शोभित होतीहै वह कौन है ? जिसकी सम्पत्ति ताराारूपतासे परिणमित अर्थात् फलित होती है । और जिसके सम्मुखमें प्राप्त हुई रत्नकाञ्ची हर्षोद्गमसे कम्पित होती है वह कौन है जिसने आज काञ्चीपुरीको देखी है । और जिसके पिछाडी चलनेमें विशेषतासे कहा न जाय और उग्र कहिये अधिक अभिलाष है वह कौन है जिसपर आज सदाशिव तुष्ट हैं । और जिसके अर्थ विलक्षण जो वेणी सो कम्पसे बिखर रही है वह कौन है? जिसने आज त्रिवेणीके जलमें स्नान कियाहै । यहां षष्ठयन्त जो दो किंशब्द और तृतीयान्त जो दो किंशब्द हैं सो अनेक नायकों विना अनुपपन्न होकर नायकोंको अनेकत्व सूचित करतेहैं, इससे उदाहरण संगत होगया ।

अब एककी अनेकनायिकाविषयक रतिका उदाहरण "पञ्चेषु" इत्यादि श्लोकसे कहतेहैं । श्लोकार्थ यह है कि नायिकाको लोभ करानेवाला जो नायकका

अत्राऽपि वैषयिकता प्राग्वदेव । यत्र रसा बहवः स रसश-
बलः । यत्र भावा बहवः स भावशबलः । तत्र रसशबलो
दर्शितः । भावशबलो यथा-
प्रव्रज्यैव शुभाय मे श्रुतिपथं जायेत तस्या वच-
श्चक्राग्रे मम कः स्मरस्त्रिजगती शून्या विना राधया ।

नर्मसचिव उसके प्रति यह उक्ति है कि हे प्रिय ! अर्थात् हे अभिलषितार्थपरायण ! और हे सखे ! अर्थात् प्रतारणाके अयोग्य ! पाँच हैं बाण जिसके ऐसा जो राजा कामदेव उसकी जो प्रतापलहरी अर्थात् प्रतापोज्जृम्भण तद्रूप ऐसी जो प्रकृत पुरुषकी प्रीति सो कौन स्त्रियोंके स्तनरूप काञ्चनपर्वतोंके तटमें काश्मीरपंकवत् आचरण नहीं करती है ? और कौन कमलनयनाओंके मस्तकमें सिन्दूररेखावत् आचरण नहीं करती है ? और कौनके दोनों कानोंमें मणिरचित भूषणवत् आचरण नहीं करती है ? अपि तु सम्पूर्ण स्त्रियोंमें तत्तत्कार्यसे उसकी प्रीति व्यक्त ही है । यहां सुलभतार्थक एवकारके प्रयोगसे और दो तीन बार किंशब्दके प्रयोगसे अनेक नायिका विषयक रति सूचित होती है सो जानना । यहां यह जानना चाहिये कि कलहशील जो कुपुत्रादि तदालम्बनतासे और वीतरागाद्यालम्बनतासे वर्ण्यमान शोक, और ब्रह्मविद्यानधिकारिचाण्डालादिगत निर्वेद, और कदर्य कातरादिगत क्रोध, और पित्राद्यालम्बनक उत्साह और ऐन्द्रजालिकाद्यालम्बनक विस्मय, गुर्वाद्यालम्बनक हास, महावीरादिगत भय, यज्ञीयपशुमांसालम्बनक जुगुप्सा ऐसे वर्णनमें रसाभास जानना और भावाभासमें भी यही रीति जाननी ॥

रसशबलदृष्टान्तसे भावशबल कहनेके अर्थ रसशबलका अनुवाद करते हैं "यत्र" इत्यादि वाक्यसे । वाक्यार्थ यह है कि जहां बहुत रस होय वह रस शबल है । इसही रीतिसे जहां भाव बहुत होय तहां भावशबल कहना । यहां निर्वेद जो तेतीस और गुर्वादिविषयक रति ये भावपदार्थ हैं, इसका अभिप्राय यह है कि नारिकेलका जल और दुग्ध और बूरा और केला इनको एकत्रित करिकै भोजन करनेसे जैसे विलक्षण स्वाद होता है तैसे ही भावोंका जहां समूह है तहां भी स्वाद होताहै सो जानना ।

इन दोनोंमें रसशबलका उदाहरण तो कह ही आये हैं "तस्याप्येतदेवोदाहरणम्" इस ग्रन्थसे । और भावशबलका उदाहरण कहते हैं "प्रव्रज्य" इत्यादि श्लोकसे । श्लोकार्थ यह है कि कृष्णकी उक्ति है कि उस राधाका जो वचन सो यदि हमारे श्रुतिपथको

निर्मुक्तैव मनस्त्रपा मृगदृशो लावण्यमन्यादृशं
धिग्जन्म क्व गतासि किं विलपितैः क्वाऽसि प्रसन्ना भव ॥२३॥
निर्वेदौत्सुक्यामर्षभ्रममतिविषाददैन्यानां भावानां सांकर्यादेष भावशबल इति ।
अथ रसभावालंकाराणामभिव्यक्तिः।रसस्त्रिविधः—अभिमुखोविमुखः परमुखश्चेति। व्यक्तैर्भावविभावाऽनुभावैर्यस्याभिव्यक्तिः सोऽभिमुखः । भावविभावाऽनुभावानामनुक्तत्वात्कष्टावगमो विमुखः । परमुखोऽपि द्विविधः—अलंकारमुखो भावमुखश्च । अलंकारमुखेऽलङ्कारो मुख्यो मनोविश्रामहेतुत्वाद्रसो गौणः । भावमुखे भावो मुख्यो मनोविश्रामहेतुत्वाद्रसो गौणः ।

प्राप्त होय तो हमको संन्यास शुभ है (यहां प्रव्रज्याही शुभ है यह कहनेसे निर्वेद सूचित किया और राधाका वचन जो श्रुतिपथको प्राप्त होय यह कहनेसे औत्सुक्य-सूचित किया) फिर कहते हैं कि हमारे चक्रके आगे कामदेव कौन है (यह कहनेसे अनर्थ सूचित किया) फिर कहते हैं कि तीनों जगत् राधा विना शून्य है (इससे भ्रमसूचित किया) फिर कहते हैं कि मनकी जो लज्जा सो जाती ही रही (इससे मति सूचित की) फिर कहते हैं कि मृगनयनाका जो लावण्य है सो विलक्षण है अर्थात् अनुपम है (इससे स्मृति सूचित की) फिर कहते हैं कि तू अनिश्चित देशमें गई इसहीसे हमारे जन्मको धिक्कार है (यहां अलाभ होनेसे विषाद सूचित किया) फिर कहते हैं कि विलाप करनेसे क्या, नहीं सम्मुखमें प्राप्त ऐसी तू कहां है, प्रसन्न होजाओ अर्थात् जहां हो तहांसे आकर हमको प्रसन्न करो (इससे दीनता सूचित की) यहां निर्वेद, औत्सुक्य, अमर्ष, भ्रम, मति, विषाद और दैन्य इन भावोंका सङ्कर्य होनेसे यह भावशबल है सो जानना ॥

अब इसके उत्तर रसभाव अलंकार इनकी अभिव्यक्ति कहते हैं । भाव और अलंकार इन दोनोंकी अभिव्यक्ति दिखानेके निमित्त रसका विभाव "रसस्त्रिविधः" इत्यादि वाक्यसे कहते हैं । वाक्यार्थ यह है कि रस तीन प्रकारका है, एक अभिमुख दूसरा विमुख, तीसरा परमुख। तहां अभिव्यक्त जो भाव, विभाव, अनुभाव उनसे

अत्र प्राचीनसम्मतिः-

अलंकारे च रुचिरे मनोविश्रान्तिकारिणि ।
अलंकारस्य मुख्यत्वं गौणत्वं रसभावयोः ॥ २४ ॥

इति । अभिमुखाः स्वस्वप्रकरण उदाहृता एव । विमुखो यथा-

मैथिली लक्ष्मणो रामः सुग्रीवः पवनात्मजः ।
लंकापुरं परित्यज्य पारं वारिनिधेर्ययुः ॥ २५ ॥

अत्र संकटमखिलं समुत्तीर्यैते समागता इत्यद्भुतो रसः कष्टादवम्यते । अलंकारमुखो यथा-

एषा न लेखा भ्रमतामलीनां भाति प्रभाते नवकैरविण्याः ।
आलिंगतः किन्तु तुषारभानोःकांतिःकलंकस्य वपुर्विलग्ना२६

अत्रापह्नुतेरलंकारस्य मुख्यता । भावमुखो यथा-

जिसकी अभिव्यक्ति होय वह अभिमुख है और भाव, विभाव, अनुभाव इनके कथन विना कष्टसे जहां रसका अवगम होय वह विमुख है। परमुख रस दो प्रकारका है-एक अलंकारमुख एक भावमुख। तहां अलंकारमुख रसमें अलंकार तो मनोविश्राम हेतु होनेसे प्रधान है और रस गौण है। और भावमुख रसमें मनोविश्राम हेतु होनेसे भाव तो प्रधान है और रस गौण है तहां प्राचीन संमति कहते हैं "अलंकार" इत्यादि कारिकासे। कारिकार्थ यह है कि जहां चमत्कारहेतु और मनोविश्रान्तिकारक अलंकार होय तहां अलंकार तो मुख्य है और रसभाव गौण है। अभिमुख रस आप आपके प्रकरणमें कह ही आये हैं। विमुखका उदाहरण "मैथिली" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि जानकी और लक्ष्मण और रामचन्द्र और सुग्रीव और हनुमान् ये लंकापुरको त्याग करिके समुद्रके पारको प्राप्त होते भये। यहां सम्पूर्ण संकटको तिरकरिके ये आये यह जो अद्भुत रस सो कष्टसे जानाजाताहै ॥

अब अलंकारमुखका उदाहरण "एषा" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि प्रभात समयमें नवीन कैरविणीके समीपमें यह भ्रमण करते हुए भ्रमरोंकी पंक्ति नहीं है किन्तु आलिंगन किया जिसने ऐसा जो चन्द्रमा उसकी

सप्ताम्भोनिधिनीरहीरपटलालंकारिणीं मेदिनीं
दातुं विप्रकुलाय योजितवतः संकल्पवाक्योद्यमम्।
नाभीनीररुहात्सरोरुहभुवा तत्कालमाविष्कृते
हस्ताम्भोरुहि भार्गवस्य किमपि क्रीडास्मितं पातु वः॥२७॥

अत्राद्भुतभावस्य मुख्यता, दानवीररसो गौणः॥

विद्वद्वारिधराः स्नेहं तथा वर्षत सन्ततम्।
लभते विपुलां वृद्धिं यथा रसतरंगिणी॥ २८॥

अवगाहस्व वाग्देवि दिव्यां रसतरंगिणीम्।
अस्मत्पद्येन पद्मेन रचय श्रुतिभूषणम्॥ २९॥

कलंककी कान्ति शरीरमें लगी हुई शोभित होतीहै यहां अपह्नुति अलंकार मुख्य है और शृंगार रस गौण है। अब भावमुख रसका उदाहरण "सप्ताम्भोनिधि" इत्यादि श्लोकसे कहते हैं। श्लोकार्थ यह है कि सातसमुद्रोंका जलरूप जो हीरकसमूह तद्रूप अलंकारसे युक्त जो पृथिवी उसको ब्राह्मणकुलके अर्थ देनेके निमित्त संकल्पसूचक वाक्यका उद्योग करनेवाले जो भार्गव उनका अतिशयित जो व्रीडास्मित अर्थात् उक्त प्रतिज्ञाका निर्वाह और प्रकृत याचककी कामनापूर्ति दोनोंके विरोधसे उत्पन्न जो लज्जा तत्पूर्वक जो हास्य सो तुम्हारी रक्षा करो। क्या होत सन्ते हास्य है सो कहतेहैं कि कमलसे उत्पन्न ब्रह्माने नारायणावतारमें आपके नाभिकमलसे हस्तरूप कमल प्रसारित करत सन्ते। यहां अद्भुतभाव तो मुख्य है और दानवीर रस गौण है सो जानना।

अब आपकी कीर्तिके अनुवर्तनकी विद्वत्परिशीलन विना दुर्घटता मानते हुए भानुमिश्र पण्डितोंसे प्रार्थना करते हैं "विद्वद्वारिधराः" इत्यादि श्लोकसे। श्लोकार्थ यह है कि हे पण्डितो! वागमृतप्रयोक्ता विद्वान् रूप जो मेघ सो निरन्तर उस प्रकार स्नेहकी वर्षा करो कि जिस प्रकार रसतरंगिणी बहुत वृद्धिको प्राप्त होय। आपके ग्रन्थके उदाहरणोंमें परकीयत्वाशंकाका निवारण करते हुए देवता-प्रसादके अर्थ कविभारतीकी अधिष्ठात्री देवताकी प्रार्थना करतेहैं "अवगाहस्व" इत्यादि श्लोकसे। श्लोकार्थ यह है कि हे वाग्देवि दिव्या अर्थात् निमज्जनोन्मज्जन-क्रीडाहेतु जो यह गूढागूढव्यंग्ययुक्त रसतरंगिणी उसका अवगाहन करो, और

यावद्भानोः सुता काऽपि कालिन्दी भुवि वर्तते ।
तावत्तिष्ठतु मे भानोरेषा रसतरंगिणी ॥ ३० ॥

इति श्रीभानुदत्तमिश्रविरचितायां रसतरंगिण्यां प्रकीर्णकं नामाष्टमस्तरंगः ॥ ८ ॥

हमारे श्लोकरूप जो कमल उनसे कर्णभूषण बनावो । आपकी कीर्तिकी अनुवृत्तिके अर्थ आपका और ग्रन्थका नाम कहते हुए आपके यशकी फैलानेवाली वाग्देवीसे इच्छा करते हैं "यावत्" इत्यादि श्लोकसे । श्लोकार्थ यह है कि जबतक सूर्यकी कन्या काचघटीवत् अनिर्बचनीया अद्भुत जलयुक्त कालिन्दी पृथिवीपर है तबतक मैं जो भानुमिश्र उसकी यह रसतरंगिणी स्थित रहो ॥

इति श्रीरसतरंगिणीभाषाटीकायां प्रकीर्णकं नामाष्टमस्तरङ्गः ॥ ८ ॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः ।

पुस्तक मिलनेका ठिकाना-
खेमराज श्रीकृष्णदास,
"श्रीवेंकटेश्वर" स्टीम् प्रेस-बम्बई.